प्रकाशकीय-निवेदन

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि० सं० २०१० की साल में कपड़वंज शहर में मीठाभाई गुलालचन्द के उपाश्रय में चातुर्मास बीराजे थे। उस वक्त विद्वान बालदीक्षित मुनिराज श्री सूर्योदयसागरजी महाराज की प्रेरणा से आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला की स्थापना हुई थी। इस ग्रन्थमाला ने अब तक काफी प्रकाशन प्रगट किये हैं।

सूरीश्वरजी की पुण्य-कृपा से यह 'धर्म-रत्न-प्रकरण' का आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि रचित टीका का हिन्दी अनुवाद के दूसरा भाग को आगमोद्धारक-ग्रन्थमाला के ३३ वें रत्न में प्रगट करने से हमको बहुत हर्ष होता है।

इसका संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के तत्त्वावधान में शतावधानी श्री लाभसागरजी गणि ने किया है। उसके बदले उनका और जिन्होंने इसके प्रकाशन में द्रव्य और प्रति देने की सहायता की है उन सब महानुभावों का आभार मानते हैं।

लि०

प्रकाशक

किञ्चिद्-वक्तव्य

सुज्ञ विवेकी पाठकों के समक्ष भाव-श्रावक के लक्षणों का वर्णन-स्वरूप श्री धर्मरत्न प्रकरण (हिन्दी) का यह दूसरा भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ रत्न में भाव श्रावक के क्रियागत छ और भावगत सत्रह १७ लक्षणों का सुन्दर वर्णन कथाओं के साथ किया गया है। इस चीज को लेकर बाल जीवों को यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है।

इस चीज को लक्ष्य में रखकर आगम सम्राट् बहुश्रुत ध्यानस्थ स्वर्गत आचार्य श्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी महाराज के सदुपदेश से वि० सं० १९८३ के चातुर्मास में वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज के प्रथम शिष्य मुनिराज श्री अमृतसागरजी महाराज के आकस्मिक काल-धर्म के कारण उन पुण्यात्मा की स्मृति निमित्त 'श्री जैन-अमृत-साहित्य-प्रचार समिती' की स्थापना उदयपुर में हुई थी। जिसका लक्ष्य था विशिष्ट ग्रन्थों को हिन्दी में रूपान्तरित करके बालजीवों के हितार्थ प्रस्तुत किये जाय। तदनुसार श्राद्ध-विधि (हिन्दी) एवं श्री त्रिषष्टीयदेशना संग्रह (हिन्दी) का प्रकाशन हुआ था, और प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मुद्रण-योग्य पुस्तिका के रूप में रह गया था। उसे पूज्य गच्छाधिपति श्री की कृपा से संशोधित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

विवेकी आत्मा इसे विवेकी बुद्धि के साथ पढ़कर जीवन सफल बनावें।

लि०

संशोधक

शुद्धि-पत्रक

त्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	(चिन्ह)	(चिह्न)	१००	८	मासक्षमण	मासक्षपण
१०	आकर्पन	आकर्णन	१११	२५	धर्म का	धन का
१०	झोपित	झोषित	१३३	२२	पदूगलों	पुद्गलों
६	अर्ह:	अर्ह:	१३७	९	भोम	भौम
४	सीयलं	सीयालं	१५६	२१	लान	लीन
१८	दंड	दंडी	१७१	१८	पत्ता	पत्तो
२५	होने	होने से	१८४	हेडिंग	हरिनंदी	ब्रह्मसेन सेठ
९	पढिसू	पडिसु	२१२	३	भाग्यहान	भाग्यहीन
१७	उच्छ्रुत	उच्छ्रित	२४६	९	मध्यम	मध्यस्थ
१५	उक्त:	उक्त	२५६	२१	मुक्तासूक्ति	मुक्ताशुक्ति
७	अचित	अचित्त	२६१	८	प्रतिक्रमण	सुबह प्रतिक्रम.
१६	अनोभोगा	अनाभोगा	२७५	८	काय	कार्य
३	दिक	दिक्	२७९	हेडिंग	चन्दोदर	चन्द्रोदर
१५	दाप्तिवान	दीप्तिवान	२८७	६	केवलज्ञान	केवलज्ञानी
१६	काश्पय	काश्यप	२८८	६	पारमार्थ	परमार्थ
२५	शिवनन्दा	शिवानन्दा	,,	२३	जावां	जीवों
४	यिष्टी	यष्टी	,,	२४	वज्रायुद्ध	वज्रायुध
२३	तद्वर्णा	तद्वर्णा:	२९२	२६	तीसरे	चौथे
३	क्रत	कृत	२९४	हेडिंग	विह्नकता	विह्नीकता
१६	दुर्वारि	दुर्वार	,,	८	,,	,,
१७	पकार	प्रकार	२९७	६	खाद्य	खातर
१२	निविघ्नता	निर्विघ्नता	३०२	४	कायोत्सग	कायोत्सर्ग
४	स्पर्शेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय	३०३	६	शर	शूर
६	थनवान	धनवान	३०३	९	मुनिश्वर	मुनीश्वर
९	उज्जवल	उज्ज्वल	३०६	३	पौपधा	पौपध

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ

आचार्य-प्रवर श्री शान्तिसूरि-विरचित

धर्म-रत्न-प्रकरण

द्वितीय भाग

कयवयकम्मो[1] तह सीलवं च[2] गुणवं च[3] उज्जुववहारी[4] ।
गुरुसुस्सूसो[5] पवयण-कुसलो[6] खलु सावगो भावे ॥३३॥

मूल का अर्थ—भाव श्रावक के लिंग (चिन्ह) कहते हैं।

व्रत का कर्तव्य पालन करने वाला हो, शीलवान हो, गुणवान हो, ऋजु व्यवहारी हो, गुरु की शुश्रूषा करने वाला हो, तथा प्रवचन में कुशल हो, वही भाव श्रावक कहलाता है।

टीका का अर्थ—व्रत सम्बन्धी आगे कहने में आने वाले कर्तव्यों का जिसने पालन किया हो वह कृतव्रतकर्म कहलाता है वैसे ही शीलवान् (इसका स्वरूप भी आगे कहा जावेगा) तथा गुणवान् याने अमुक गुणों से युक्त (इस स्थान में चकार समुच्चयार्थ है और वह भिन्नक्रम है) तथा ऋजुव्यवहारी याने सरल हृदय वाला तथा गुरु-शुश्रूष याने गुरु की सेवा करने वाला व प्रवचन कुशल याने जिनमत के तत्व को जानने वाला, ऐसा जो होता है वही पारमार्थिक भाव-श्रावक होता है यह गाथा का अक्षरार्थ है।

हेतु सुने किन्तु बताने वाले पर बहुमान रखने वाला नहीं होता है क्योंकि वह भारी कर्म वाला होने से दूसरा बहुमान वाला होता है किन्तु शक्ति विकल होने से विनय नहीं करता है वह रोगी आदि है। तीसरा कल्याण कलाप को शीघ्र पानेवाला होने से सुदर्शन सेठ के समान विनय तथा बहुमान पूर्वक सुनता है। चौथा अतिभारी कर्मी होने से विनय और बहुमान इन दोनों से रहित होकर सुनता है ऐसे व्यक्ति को आगमानुसारी प्रवृति करने वाले गुरु ने (कुछ भी) कहना उचित नहीं।

श्री स्थानांग सूत्र में कहा भी है कि:—चार जने वाचना देने के अयोग्य है यथा अविनीत, विकृतिरसिक, अविज्ञोपित-प्राभृत व अति कषायी।

तथा (ग्रथांतर में कहा है कि) सामान्यत: भी आदेशानुसार विभाग करके जो विनीत हो उसे मधुर वाणी से ज्ञानादिक की वृद्धि करने वाला उपदेश देना।

अविनीत को कहने वाला (व्यर्थ) क्लेश पाता है और मृषा (निष्फल) बोलता है घंट बनने के लौह से कट बनाने को कौन हैरान होता है ?

अतः विनय और बहुमान पूर्वक जो व्रत श्रवण करता है वह (भाव श्रावक) किससे सुने सो कहते हैं गीतार्थ से वहां।

गीत याने सूत्र कहलाता है, और उसका जो व्याख्यान सो अर्थ। अतः जो गीत और अर्थ से संयुक्त हो वह गीतार्थ कहलाता है।

गीतार्थ के अतिरिक्त अन्य तो कभी असत्य प्ररूपणा भी कर देता है, जिससे विपरीत बोध होता है (अतः गीतार्थ से

सुनना) यहां स्तवश्रवण तो उपलक्षणरूप है, इससे अन्य भी आगम आदि का श्रवण समझ लेना चाहिये यह एक सत्कार्य है।

सुदर्शन सेठ की कथा इस प्रकार है:—

दीर्घ अक्षिवाले निर्मल रत्न से सुशोभित तथा अलक (केश) से युक्त स्त्री के मुख समान दीर्घ रथ्या (लम्बे रास्ते वाला) और अति निर्मल रत्न ऋद्धि से भरपूर होकर अलिक (खोटी) श्री (धूमधाम) से रहित राजगृह नामक नगर था। वहां द्रव्य गुण कर्म समवायवादि वैशेषिक के समान अत्यन्त द्रव्यवान, अत्यंत गुणवान, समवाय (संप) में तत्पर और श्रेष्ठ कर्म में मन रखने वाला श्रेणिक नामक राजा था । वहीं अति धनवान् अर्जुन नामक माली निवास करता था। उसकी सुकुमार हाथ पांव वाली बंधुमति नामक स्त्री थी। वह अर्जुन माली प्रतिदिन नगर के बाहर स्थित अपने कुल देवता मुद्गरपाणि नामक यक्ष को उत्तम पुष्पों से पूजता था।

वहां ललिता नामक गोष्टी (मंडली) थी वह शौकिन व धनाढ्य लोगों की थी। उस नगर में एक समय कोई महोत्सव आया। तब अर्जुनमाली ने विचार किया कि, कल फूल का मूल्य अच्छा आवेगा यह सोच वह स्त्री सहित वहां प्रातःकाल (होते ही) आ पहुँचा। वह ज्योंही हर्ष के साथ यक्ष के गृह में फूल लेकर घुसा, त्योंही उक्त घर के बाहिर स्थित गोष्टिल पुरुषों ने उसे देखा। वे एक दूसरे को कहने लगे कि, यहां अर्जुनमाली बंधुमती सहित आता दिखता है । अतः हम ऐसा करें तो ठीक है कि, इसे बांधकर इसकी स्त्री के साथ भोगविलास करें यह बात सबने स्वीकार की।

तब वे किवाड़ के पीछे चुपचाप छिप रहे, इतने में अर्जुन-माली वहां आकर एकाग्र हो यक्ष को पूजने लगा । अब वे

एकदम निकलकर उसे बांध बंधुमति के साथ रमण करने लगे। यह देख अर्जुनमाली अति क्रोध से विवश हो विचारने लगा कि- मैं इस यक्ष को नित्य उत्तम पुष्पों से पूजता हूँ।

जो इस मूर्ति में वास्तव में कोई यक्ष होता तो मैं इस भांति पर परिभव नहीं सहता अतः निश्चय यह पत्थर ही है। तब यक्ष को अनुकंपा आने से वह उसके शरीर में प्रविष्ट हुआ, जिससे उसने बंधन को कच्चे सूत की भांति तड़ से तोड़ डाला। पश्चात् सहस्र पल याने वर्तमान तौल से अनुमान अढ़ाई मन का लोहे का मुद्गर अपने हाथ में लेकर उसने अपनी स्त्री सहित छः पुरुषों को एक ही झपाटे में मार डाला। इस भांति नित्य वह अर्जुन माली छः पुरुष व एक स्त्री मिलकर सात हत्याएँ करता रहा। क्रमशः यह बात नगर में फैल गई। जिससे राजा श्रेणिक ने नगर में उद्घोषणा कराई कि-हे नगर वासियों! जब तक अर्जुनमाली ने सात व्यक्तियों को न मार डाला हो तब तक शहर के बाहर न निकलना चाहिये। उसी समय में चरम जिनेश्वर श्री वीरप्रभु का वहां आगमन हुआ, किन्तु भय के कारण से कोई भी उनको वन्दन करने के लिये नहीं निकला। अब वहां निर्मल सम्यक्त्ववान् और अति धर्मार्थी सुदर्शन नामक सेठ था, वह जिनवाणी सुनने में रुचिवान् तथा नव तत्त्व के विचार जानने में कुशल था। वह श्री वीरप्रभु के वचनामृत का पान करने को उत्सुक होने से अपने माता पिता के पास जाकर, उनको नमन करके सम्यक् रीति से ऐसा कहने लगा—

हे माता पिता! आज यहां वीर जिनेश्वर पधारे हैं, इसलिये उनको नमन करने तथा उनकी देशना सुनने को मैं शीघ्र ही वहां जाना चाहता हूँ।

सकल जंतुओं को त्राण करने में समर्थ है प्रताप गुण
जिनका और तीनों जगत् के लोगों ने नमन किया है चरणों को
जिनके, ऐसे वीर प्रभु ही मेरे आधार हैं । यह कहकर वह
सागारी अनशन करके सर्व जीवों को खमाने लगा । उसने अपने
दुष्कृतों की निन्दा की तथा समस्त सुकृतों की अनुमोदना की ।
उसने चिन्तवन किया कि, जो मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो
जाऊंगा तो कायोत्सर्ग पारूंगा यह सोच व कायोत्सर्ग कर
नवकार का ध्यान करने लगा । अब यक्ष मुद्गर को उछालता
हुआ उस पर आक्रमण करने में असमर्थ होकर शान्त हो,
निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता हुआ क्षणभर वहां स्तंभित हो
गया । पश्चात् वह यक्ष अपना मुद्गर ले उसके शरीर में से
निकलकर अपने स्थान को चला गया, तब कटे हुए वृक्ष के
समान अर्जुनमाली भूमि पर गिर पड़ा । तब उपसर्ग दूर हुआ
जानकर सुदर्शन सेठ ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया इतने में अर्जुन-
माली को भी चेत हुआ, तो वह सुदर्शन सेठ से इस भांति
कहने लगा । तू कौन है ? और कहां जाता है ? तब सुदर्शन सेठ
बोला कि–मैं श्रावक हूँ और वीर प्रभु को नमन करने तथा धर्म
कथा सुनने को जा रहा हूँ । तब अर्जुनमाली बोला कि– हे
सेठ ! तेरे साथ चलकर मैं भी उक्त जिन को नमन करना तथा
धर्म सुनना चाहता हूँ ।

हे भद्र ! जिन वंदन और धर्म कथा का श्रवण करना यही
इस मनुष्य जन्म का उत्तम फल है । यह कह उसे संग ले
सुदर्शन सेठ ने समोसरण में आ पांच अभिगम पूर्वक प्रयत
होकर जिनेश्वर को वन्दना की । वह हर्षाश्रु से परिपूर्ण–नेत्र
तथा विकसित–मुख हो, हाथ जोड़, शुद्ध अन्तः करण से भक्ति
व बहुमान पूर्वक इस प्रकार प्रभु की देशना सुनने लगा । यथा–

कर्मक्षय कर मोक्ष को गया। सुदर्शन सेठ भी चिरकाल सम्यक्त्व की प्रभावना करता हुआ व्रत पालन करके (स्वर्ग को गया) सुख का भाजन हुआ। इस प्रकार आगम सुनने में रसिक बने हुए सुदर्शन ने श्रेष्ठ फल पाया अतः हे भव्यजनो तुम भी धर्मद्रुम की थाली रूप धर्म श्रुति में यत्नवान बनो।

इस भांति सुदर्शन सेठ की कथा है।

भंगयभेयऽयारे—वयाण सम्मं वियाणेइ ॥ ३५ ॥

अब दूसरा लिंग कहते हैं:—

व्रत क्रिया में आकर्णन रूप प्रथम भेद कहा अब जानना नामक दूसरे भेद का वर्णन करने के लिये गाथा का उत्तरार्ध कहते हैं।

मूल का अर्थ:—व्रतों के भंग, भेद और अतिचार भली भांति विचारे।

टीका का अर्थ:—व्रत याने अणुव्रत, जिनका कि स्वरूप इसी गाथार्ध में भेद व अतिचार के प्रस्ताव में कहने में आने वाला है, उनके भंग "दुविहं तिविहेणं" आदि अनेक प्रकार उनको सम्यक् याने शास्त्रोक्त विधि से जाने याने समझे।

यथा:—यहां भंग इस प्रकार है—छः भंगी, नवभंगी, इक्कीस-भंगी, ऊनपचास भंगी और एकसौ सैंतालीस भंगी।

यहां छः भंगी इस प्रकार है:—

द्विविध त्रिविध प्रथम भंग, द्विविध द्विविध दूसरा भंग, द्विविध इकविध तीसरा भंग, इकविध त्रिविध चौथा भंग, इकविध त्रिविध पांचवा भंग, इकविध इकविध छठा भंग।

एक एक व्रत के भंग कहे. द्विकादि व्रत संयोग के प्रकार से तो अनेक प्रकार होते हैं।

उनको लाने के लिए उपाय की गाथा इस प्रकार है—

एगवए छब्भंगा[1]–नवे[2] गवीसे[3] गुवन्न[4] सीयलं[5] ।
एगहिय छाइ गुणिया – छाइजुया वयसमा भंगा ॥ १ ॥

एक व्रत में छः, नव, इकवीस, उनपचास और एकसौ सैंतालीस भंग होते हैं. उनको एकाधिक छः आदि से याने ७–१०–२२–५० व १४८ से गुणा करके उनमें छः आदि संख्या जोड़ना. इस प्रकार जितने व्रत हैं उतनी वार करने से भंग तैयार होते हैं।

इस गाथा की अक्षर.योजना इस प्रकार है—

एक व्रत में याने प्राणातिपातादिक में के किसी भी एक व्रत में ६, ९, २१, ४९ व १४७ भंग होते हैं। अव उनमें अन्य व्रतादि संयोग करने से वे ही छः आदि भंग एकाधिक छः आदि से याने ७, १०, २२, ५०, १४८ से गुणा करना. पश्चात् उनमें छः आदि याने ६, ९, २१, ४९ व १४७ जोड़ना. उससे क्या होता है सो कहते हैं– ऐसा करने से निश्चित किये हुए द्वितीयादि व्रत की संख्या जितनी वार गुणा करने से भंग हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यह है – यहां प्रथम व्रत की छः भंगी में छः भंग हैं तो वे ही दो व्रत के संयोग में ७ से गुणा करते ४२ होते हैं उनमें छः जोड़ते ४८ होते हैं।

उसी ४८ की संख्या को तीन व्रत के संयोग में सात से गुणा करके छः जोड़ने से ३४२ होते हैं. ऐसे ही चार व्रत आदि के संयोग में भी ७ से गुणा करके छः जोड़ने के क्रम से चलते जाना,

तो अन्त में ग्यारहवीं वार बारह व्रत के संयोग के
१३८४१२८७२०० होंगे।

तेरस कोडिसयाइं-चुलसी कोडीउ, बारस य लक्खा।
सगसीइ सहस दो सय - सव्वग्गं छक्कभंगीए ॥ १ ॥

तेरह सौ शतकोटि (अरब), चौरासी करोड़, बारह ला
सित्यासी हजार, दो सौ। इतने सब मिलकर छः भंगी के
होते हैं।

नवभंगी में पहिले व्रत में नव भंग हैं, उससे द्विकादि व्र
संयोग में उस संख्या को दश से गुणा करके, नव जोड़ने के क
से चले जाना, तो ग्यारहवीं वार बारह व्रत के संयोग के भंगों क
संख्या नीचे लिखे अनुसार होती है:—

(९९९९९९९९९९९९)

इकवीस भंगों में प्रथम व्रत में २१ भंग हैं, जिससे द्विकादि
व्रत संयोग में बावीस से गुणा कर, इकवीस जोड़ते जाना तो
ग्यारहवीं वार बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या।

१२८५५००२३३१०४९२१५

उनपचास भंगों में प्रथम व्रत में ४९ भंग हैं जिससे द्विकादि
व्रत संयोग में पचास से गुणा करके ४९ जोड़ते, ग्यारहवीं वार
बारह व्रत के संयोग के भंगों की संख्या।

२४४१४०६२४९९९९९९९९९९

१४७ भंगों में प्रथम व्रत में १४७ भंग हैं, जिससे द्विकादि व्रत
संयोग में १४८ से गुणा कर १४७ जोड़ने से ग्यारहवीं वार बारह
व्रत के संयोग के भंगों की संख्या नीचे लिखे अनुसार होती है—
१,१०,४४,३४,६०,७०,१९,६१,१५,३३,३५,६९,५७,६९५

ये भंग अक्षर संचारण से अपनी बुद्धि द्वारा जान लेने चाहिये इस प्रकार अनेक प्रकार से व्रतों के भंगों को जानें तथा व्रतों के भेद याने सापेक्ष – निरपेक्ष आदि प्रकार तथा वध–बंधादिक अतिचारों को जानें ।

यह आशय है— यहां श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत हैं । यहाँ अणु याने लघु व्रत सो अणुव्रत अथवा अणु याने गुणों की अपेक्षा से यति से लघु श्रावक के व्रत सो अणुव्रत — अथवा देशना के समय महाव्रतों की प्ररूपणा के पश्चात् प्ररूपण किये जाने वाले व्रत सो अणुव्रत, क्योंकि प्रथम श्रवण करने वाले को महाव्रत कहे जाते हैं, तदनंतर वह स्वीकार न कर सके तो फिर अणुव्रत कहे जाते हैं ।

क्योंकि कहा है कि—यति धर्म ग्रहण करने में असमर्थ को साधु ने अणुव्रत की देशना तो भी देना चाहिये ।

वे अणुव्रत पांच हैं— "स्थूल प्राणातिपात विरमण" आदि उसमें जिनको अन्य तीर्थ वाले भी प्रायः प्राणित्व से स्वीकार करते हैं, वे द्वीन्द्रियादिक स्थूल हैं वे उश्वास आदि प्राण के योग से प्राण रूप में बोलने स्थूल प्राण कहलाते हैं उनके योग से वे ही कहे जा सकते हैं जैसे कि– दंड के योग से पुरुष को भी दंड कहा जा सकता है उक्त स्थूल प्राणों का अतिपात याने वध अर्थात् हिंसा, उससे विरमण याने संकल्पाश्रयी प्रत्याख्यान सो प्रथम अणुव्रत है ।

प्रत्याख्यान आवश्यकचूर्णि में इस प्रकार कहा है:—

स्थूल प्राणातिपात को संकल्प से छोड़ता हूँ जीवन पर्यन्त द्विविध त्रिविध भंग से याने कि मन, वचन व काया से उसको न करूं, न कराऊं । हे पूज्य ! उस विषय की भूल से प्रतिक्रमण

करता हूँ, निंदा करता हूँ, तिरस्कार करता हूँ और वैसे परिणाम को दूर करता हूं।

यहां संकल्प से याने मारने की बुद्धि का आश्रय लेकर प्रत्याख्यान है, न कि आरंभ से भी क्योंकि गृहस्थ से आरंभ नहीं रुक सकता है।

उक्त व्रत वाले ने ऐसे पांच अतिचार से दूर रहना चाहिये, वे ये हैं:—बंध, वध, छविच्छेद, अति भारारोपण और भक्तपान व्यवच्छेद, उसमें बंध याने मनुष्य व बैल आदि को रस्सी आदि से बांध रखना, वह दो प्रकार से किया जाता है स्वार्थ के हेतु व निरर्थक, वहां विवेकी ने निरर्थक बंध कभी भी न करना चाहिये।

स्वार्थ के हेतु बंध भी दो प्रकार का है सापेक्ष व निरपेक्ष। उसमें जब चौपायों या चौरादिक को आग में जल जाने का भय न रखते, निर्दयता से, मजबूती से अत्यन्त कसकर बांधा जावे वह निरपेक्ष बंध है, और जब जानवरों को इस प्रकार बांधा जावे कि आग में वे छूट सकें तथा दास, दासी, चोर अथवा पढ़ने में आलसी पुत्रादिक को वे मर न जावें ऐसा भय रखकर दया पूर्वक बांधे गये हों कि- जिससे वे शरीर हिला डुला सकें, व आग में जल न सकें उसे सापेक्ष बंध कहते हैं।

यहां जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है कि श्रावक ने ऐसे ही पशु रखना चाहिये कि- वे बिना बांधे भी वैसे ही रहें तथा उनको प्रभाव से ही वश में रखना कि- जिससे बांधे बिना ही केवल [illegible] चाबुक आदि डटकर सीधे चलें कदाचित् इतने भी कोई न माने तो, उपरोक्तानुसार सापेक्ष बंध करने से [illegible] बाधा नहीं आती, किन्तु निरपेक्षता से बांधे तो [illegible] अतिचार लगता है।

वध यानें लकड़ी वा चाबुक से मारना यहां भी अर्थ–निरर्थक की विचारणा बंध के अनुसार करना चाहिये विशेषता यह है कि– निरपेक्ष सो निर्दय ताड़न है जबकि– धाक से भी न डरकर कोई विरुद्ध चले, तब मर्म त्याग कर दया रख करके उसे लता व रस्सी से एक दो वार मारना सापेक्ष वध कहलाता है।

छवि यानें त्वचा, त्वचा के योग से शरीर को भी छवि कहा जा सकता है उसका छेद यानें उस्तरे आदि से काटना सो छवि–च्छेद. यहाँ भी पूर्वानुसार भावना कर लेना चाहिये. केवल हाथ, पांव, कान, नाक तथा गल पूंछ आदि अवयवों को निर्दयता से काटना निरपेक्ष माना जाता है तथा शरीर में दर्द रूप से स्थित अरु, गांठ वा मांसांकुर आदि को सदयता से काटना सापेक्ष है।

भार यानें भरना, अतिशय भार सो अतिभार, बैल आदि की पीठ पर बहुत-सा धान्य या सुपारी आदि माल लादना सो अति-भारारोपण. यहाँ पूर्वाचार्यों ने इस भांति विचारणा बताई है।

मनुष्य वा पशु के ऊपर बोझा लाद कर जो जीविका की जाती है सो श्रावक ने नहीं करना चाहिये कदाचित् करना ही पड़े तो मनुष्य से इतना भार उठवाना कि जितना वह स्वयं ही उठा ले या उतार ले. चौपाया जानवर भी जितना भार उठा सके उससे कम उस पर लादना चाहिये तथा हल व गाड़ी में से उसे योग्य समय पर छोड़ देना चाहिये।

भक्तपान यानें भोजन, पानी बन्द रखना सो भक्तपान–व्यवच्छेद. यहाँ भी प्रथमानुसार अर्थानर्थ की चिंता करना चाहिये उसमें रोग निवारणार्थ सो सापेक्ष है व अपराधी को केवल वाणी ही से डराना चाहिये कि– आज तुझे खाने को नहीं दूँगा तथा शांति निमित्त उपवास कराना पड़े तो सापेक्ष जानो, किंबहुना–

संक्षेप में मतलब यह है कि जिससे प्राणातिपात विरमण रूप मूलगुण को बाधा न पहुँचे वैसा यत्न करना चाहिये।

यहां कोई यह पूछे कि– इसने तो प्राणियों की हिंसा करने ही का त्याग किया है, बंधादिक का प्रत्याख्यान तो लिया ही नहीं है अतः उसमें इसे क्या दोष है ? क्योंकि अंगीकृत त्याग अखंड रहता है अब यदि कहा जाय कि–बंध आदि का भी उसने प्रत्याख्यान किया है तो उससे उनको व्रतभंग होवेगा ही क्योंकि विरति खंडित हो गई। अतः अतिचार कहां रहे ? तथा बंध आदि को भी जो प्रत्याख्यान में लिया जावे तो प्रस्तुत व्रत संख्या टूटेगी, क्योंकि बंध आदि पृथक् २ व्रत हो जावेंगे उसका यह उत्तर है कि– मुख्यवृत्ति से तो उसने प्राणातिपात ही को प्रत्याख्यान किया है, न कि बंधादिक को, तथापि उसके प्रत्याख्यान में अर्थ द्वारा वह भी प्रत्याख्यान हुआ ही जानना चाहिये क्योंकि– वे प्राणातिपात के कारणभूत हैं।

अब जो वे भी प्रत्याख्यान हैं तो उनके करने से व्रतभंग होवे, अतिचार कैसा ?

उत्तर—ऐसा मत बोलो—क्योंकि—

व्रत दो प्रकार का है, अंतरवृत्ति से और बहिर्वृत्ति से, उसमें मारता हूँ ऐसे संकल्प से रहित होते भी कोपादिक के आवेश से दूसरे के प्राण जाते रहेंगे (या नहीं) ? उसकी अपेक्षा याने परवाह रखे बिना बंध आदि में प्रवर्तित होवे, उस पर भी मारने वाले जीव का आयुष्य बलवान होने से उस जन्तु का मरण भी न हो, तथापि बांधने वाले को दया का परिणाम न होने से और विरति की परवाह न रखने से अन्तर्वृत्ति से तो व्रत का भंग ही हुआ किन्तु बहिर्वृत्ति से प्राणी का घात न होने

व्रत का पालन हुआ है अतः देश का भंजन हुआ, और देश का पालन हुआ उसी को अतिचार कहते हैं।

क्योंकि कहा है कि—

न मारयामीति कृत व्रतस्य —
विनैव मृत्युं क इहातिचार? इत्याशंक्योत्तरमाह।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन्,
करोत्यसौ स्यान्नियमेऽनपेक्षः ॥ १ ॥

मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद् दयाहीनतया तु भग्नः।
देशस्य भंगादनुपालनाच्च-पूज्या अतिचारमुदाहरन्ति ॥ २ ॥

मैं मारता नहीं हूँ ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले को मरण हुए बिना कैसे अतिचार लगे ? इस शंका का उत्तर कहते हैं कि–जो कोप से वधादिक करे वह व्रत में निरपेक्ष कहा जाता है सामने वाले की कदाचित् मृत्यु न हुई उससे उसका नियम कायम रहता है किन्तु कोपवश दयाहीन होने से वह भंग तो हुआ ही है। इस प्रकार देश से भंग होने से व देश से पालन होनें से आचार्य इसे अतिचार कहते हैं।

और जो कहा कि–ऐसा होने से व्रत संख्या टूटती है वह भी अयुक्त है, क्योंकि हिंसादिक की जो विशुद्ध विरति कायम रहे तो वधादिक होवे ही कैसे?

अतएव वधादिक अतिचार ही हैं, पृथक् व्रत नहीं। वधादिक पांच विषय लिये हैं सो उपलक्षण रूप हैं, उससे अन्य भी हिंसा जनक मंत्र तंत्रादिक को अतिचार जानना चाहिये।

इस प्रकार अतिचार सहित प्रथम व्रत कहा।

अब स्थूल मृषावाद विरमण नामक दूसरे व्रत का वर्णन करते हैं।

यहां स्थूल याने मोटी, द्विपद आदि वस्तु सम्बन्धी अति दुष्ट इच्छा से किया जाने वाला मृषावाद याने असत्य भाषण सो स्थूल मृषावाद उसका विरमण, सूक्ष्म का नहीं, क्योंकि वह तो महाव्रत में आता है।

उक्त स्थूल मृषावाद पांच प्रकार का है— कन्या सम्बन्धी गायसम्बंधी, भूमिसम्बंधी तथा न्यासापहार और कूटसाक्षित्व।

वहां निर्दोष कन्या को सदोष अथवा सदोष को निर्दोष कहने से कन्यालीक कहलाता है, कन्यालीक, यह पद समस्त द्विपद संबंधी अलीक का उपलक्षण है।

इस भांति गवालीक भी समझ लेना चाहिये, वह चतुष्पद संबंधी सकल अलीक का उपलक्षण है।

दूसरे की भूमि को अपनी कहना सो भूम्यलीक है, यह भी सकल अपद संबंधी अलीक का उपलक्षण है।

कोई यह प्रश्न करे कि, तो कन्यादि विशेष व्यक्ति को नहीं लेते सामान्यतः द्विपद-चतुष्पद और अपद को क्यों न लिये ! क्योंकि-वैसा करने से उसके उपरान्त कोई वस्तु न रहने से सर्व संग्रह हो जाता। उसका यह उत्तर है कि- हां, यह बात सत्य है, किन्तु कन्यादिक संबंधी अलीक, लोक में अति गर्हित माना जाता है, जिससे उसे विशेषतः वर्जन करने के लिये लिया है तथा इसी से द्विपद आदि अलीक के अतिरिक्त दूसरे अलीक होते ही नहीं तथापि लोक में अति गर्हित माने जाते न्यासापहार और कूट साक्षित्व को कन्यालीकादिक से पृथक् लिये हैं।

कोई पूछे कि- ऐसा होते भी न्यासापहार तो अदत्तादान गिना जाता है, अतः उसे यहां लेना अनुचित है। इसका उत्तर यह है कि- इसमें अपलाप वाक्य बोलना मृषावाद है, अतः उसे यहां लेने में कुछ भी बाधा नहीं।

यहां भी पाँच अतिचार वर्जनीय हैं यथा-

सहसाभ्याख्यान, रहसाभ्याख्यान, स्वदारामंत्रभेद, मृषोपदेश और कूटलेखकरण. इसमें सहसा याने बिना विचारे अभ्याख्यान याने मिथ्या दोष लगाना, जैसे कि-तूं चोर है अथवा पारदारिक (व्यभिचारी) है इत्यादि।

रहसा याने एकान्त के कारण अभ्याख्यान करना याने कि:- गुप्त सलाह करते देखकर कहना कि- यह मन्त्र मैंने जान लिया है, ये अमुक राजविरुद्ध आदि की सलाह करते हैं।

यहां कोई पूछता है—भला, अभ्याख्यान याने असत् दोष लगाना तो मृषावाद ही है, अतः उनसे तो व्रत भंग ही होता है; तो उनको अतिचार कैसे मानते हो?

इसका उत्तर यह है कि- जब दूसरे को हानि करने वाला वाक्य अनाभोगादि कारण से बोल दिया जाय तब बोलने वाला असंक्लिष्ट परिणामी होने से व्रत से निरपेक्ष नहीं माना जाता, अतः इस हिसाब से यह व्रत भंग नहीं कहा जाता, वैसे ही वह दूसरे को हानि होने का हेतुरूप होने से भंग भी है; अतः अतिचार गिना जाता है; और जब तीव्र संक्लेश से अभ्याख्यान करने में आवे, तब तो व्रत के निरपेक्षपन से यह भंग ही है।

कहा है कि- सहसब्भक्खाणाई-भणंतो जइ करेज्ज तो भंगो।
जइ पुण णाभोगाई-हिंतो तो होई अइयारो ॥ १ ॥

सहसाभ्याख्यान आदि जो जानबूझ कर किया जावे तो भंग ही है, किन्तु अजानपन से किया जावे तो अतिचार हैं।

अपनी स्त्री का मंत्र याने विश्वास रख कर कही हुई गुप्तबात सो दूसरे को कहना वह स्वदारमंत्रभेद। दार शब्द मित्रादिक का उपलक्षण है यह बात तो जैसी सुनी हो, वैसी ही बोलते सत्य होने से यहां अतिचार नहीं मानी जाती, तथापि गुप्तबात के प्रकाश से लज्जादिक होने के कारण स्त्री आदि आत्मघात करे, ऐसा संभव होने से परमार्थ से वह असत्य है।

कहा भी है कि:—सच्चं पि तं न सच्चं जं परपीडाकरं वयणं।

जो परपीड़ाकारक वचन हो, वह सत्य होते भी सत्य नहीं मानना चाहिये। अत: कुछ भंग होने से और कुछ भंग न होने से अतिचार पन समझ लेना चाहिये।

मृषा याने असत्य—उसका उपदेश सो मृषोपदेश अर्थात् यह ऐसा व इस तरह बोल आदि असत्य बोलने की शिक्षा देना सो। यहां व्रत रखने में निरपेक्षता से अनजाने दूसरों को मृषोपदेश देते भी अतिचार पन समझ लेना चाहिये।

कूट लेख याने असत् अर्थसूचक अक्षर लिखना यहां भी मुग्ध बुद्धि होकर ऐसा विचार करे कि— मैंने तो मृषावाद ही त्याग किया है व यह तो लेख करना है इस प्रकार यहां व्रत की अपेक्षा वाला रहने से यह अतिचार गिना जाता है, अथवा अन्य रीति से अनाभोगादि कारण से अतिचारपन जानो।

इस प्रकार अतिचार सहित दूसरा अणुव्रत कहा अब स्थूल अदत्तादान विरमण नामक तीसरा व्रत कहते हैं।

जहाँ चोरी का कारण माना जाय ऐसा ईंधन, घास या धान्य आदि स्थूल— न कि दांत कुरेदने की सलाई–बिना दिया हुआ लेना—उससे विराम सो स्थूलादत्तादान विरमण ।

यह तीन प्रकार का है—सचित्त संबंधी, अचित्त सम्बंधी और मिश्र संबंधी ।

यहाँ भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा—

स्तेनाहृत, तस्कर प्रयोग, विरुद्धराज्यगमन, कूटतुला कूटमान करण और तत्प्रतिरूपव्यवहार ।

वहाँ स्तेन याने चोर उनकी आहृत याने लाई हुई कुंकुम, केशर आदि वस्तु सो स्तेनाहृत ऐसी वस्तु को लोभ के दोषवश काणक्रय से याने कम कीमत में मोल लेने से चोर कहलाता है ।

चौरश्चौरापको मन्त्री भेदज्ञः काणकक्रयी ।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥

कहा भी है कि—चोर, चोरीकराने वाला, भेदज्ञ, काणक्रयी, अन्न देनेवाला, स्थान देने वाला इस भांति सात प्रकार से चोर कहा हुआ है ।

अतः इस प्रकार चोरी करने से व्रत भंग है और मैं व्यापार ही करता हूँ–चोरी नहीं करता ऐसा अध्यवसाय होने से व्रत निरपेक्ष नहीं गिना जाता है उससे अभंग है, अतः अतिचार गिना जाता है ।

तस्कर याने चोर उनको उत्साह देना सो तस्कर प्रयोग यथा– "तुम अभी निकम्मे क्यों बैठे हो ? जो खाने को नहीं हो तो मैं दूं तुम्हारे लूटे हुए माल को कोई बेचने वाला न हो तो मैं बेच दूंगा, अतः चोरी करने को जाओ" ऐसा कहकर चोरों को चोरी

है। इस भांति अपनी कल्पना करता है, इस अपेक्षा से अतिचार रूप माना जाता है।

इस प्रकार अतिचार सहित तीसरा अणुव्रत कहा। अब परदार विरमण स्वदार संतोष रूप चौथा अणुव्रत कहते हैं:—

यहाँ पर याने अपने सिवाय पुरुष तथा मनुष्य जाति की अपेक्षा से देव, तिर्यंच—उनकी दारा याने विवाहित वा संगृहीत स्त्रियां, देवियां, तिर्यंचनियां सो परदारा उनका विरमण याने वर्जन।

यद्यपि अपरिगृहीत देवियों तथा तिर्यंचनियों का कोई संग्रह करने वाला या विवाह करने वाला न होने से वे वेश्या समान ही मानी जाती हैं तथापि वे परजाति की भोगने के योग्य होने से परदारा ही समझकर वर्जनीय है।

तथा स्वदारा द्वारा संतोष—याने कि परदारा के समान वेश्या का भी वर्जन करके अपनी स्त्रियों से ही कोई संतुष्ट रहे सो स्वदार संतोष।

उपलक्षण से स्त्रियों ने अपने पति के अतिरिक्त, सामान्यतः पुरुषमात्र का वर्जन करना, यह भी जान लेना चाहिये।

यहां भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा—

इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाहकरण और काम में तीव्राभिलाष।

इनका इस प्रकार विषय विभाग है:—

परदारवर्जक को पांच अतिचार होते हैं और स्वदारसंतोषी को तीन अतिचार होते हैं, वैसे ही स्त्री को भी तीन अथवा पांच अतिचार भंग की विकल्पना करके समझ लेना चाहिये।

यहां इत्वर याने थोड़े समय तक परिगृहीत याने किसी की रखी हुई वेश्या—उसकी गमन सो परदारवर्जक को अतिचार है

क्योंकि उक्त समय तक दूसरे ने वेतन से रखी हुई होने के कारण परदारा है और मैं तो वेश्या ही का सेवन करता हूं-- परस्त्री सेवन नहीं करता. इस प्रकार सेवन करने वाले की कल्पनानुसार वह वेश्या है जिससे।

अपरिगृहीत याने अनाथ स्त्री उसका गमन अतिचार है, क्योंकि-लोक में वह पर स्त्री मानी जाती है और सेवन करने वाले की कल्पना में उसका स्वामी न होने से वह परदारा नहीं है।

ये दोनों अतिचार स्वदार संतोषी को संभव नहीं क्योंकि-स्वदारा के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों का उसने त्याग किया हुआ है, अतः उसको ऐसी स्त्रियों के साथ गमन करने से तो व्रत भंग ही लगता है।

अनंग याने काम, उसको जगाने वाली क्रीड़ा यथा--ओष्ठ [illegible] आलिंगन करना, स्तन दाबना आदि ऐसे काम का मैंने [illegible] किया है, यह मानकर पर स्त्री के साथ उनके करने से [illegible] तथा [illegible] संतोषी [illegible] दोनों को यह अतिचार [illegible] है।

[illegible] करे तो वह

करता हुआ, अतः भंग हुआ और यह तो मैं विवाह मात्र करता हूं—मैथुन कहाँ कराता हूं ? ऐसे विचार से व्रत की अपेक्षा रहती है अतः अतीचार हुआ।

काम में याने काम के उदय से किये जाते मैथुन में अथवा यह सूचक शब्द होने से काम भोग में, यहां शब्द और रूप को शास्त्र में काम मानते हैं और गंध, रस तथा स्पर्श को भोग मानते हैं उसमें तीव्राभिलाष याने अत्यंत अध्यवसाय यह भी दोनों को अतिचार संभव है यद्यपि अपनी स्त्री में तीव्रकामाभिलाष का स्पष्टतः प्रत्याख्यान नहीं किया, जिससे यह उनको खुला ही है, अतः उसके करने से उनको किसलिये अतिचार लगे ? तथापि यह अकरणीय है, क्योंकि-जिनवचन का ज्ञाता श्रावक अथवा श्राविका अत्यंत पापभीरु होकर ब्रह्मचर्य रखना चाहते हैं, तथापि वेद का उदय न सह सकने के कारण वे नहीं रख सकते, तब उसकी शान्ति मात्र करने के हेतु स्वदार संतोष आदि अंगीकृत करते हैं, ऐसा होने से अतीव्र अभिलाषा से भी शान्ति होती हो तो फिर तीव्राभिलाष परमार्थ से त्याग किया ही समझना चाहिये, अतः यह करते और व्रत की अपेक्षा भी कायम रहते भंगाभंगरूप से यह अतिचार माना जाता है।

स्त्री को अनंगक्रीड़ादि तीन अतिचार की भावना की सो तो ठीक है, किन्तु उसको पांच अतिचार किस प्रकार संभव है ?

इसका उत्तर यह है कि-जब अपने पति को सपत्नी ने पारी के दिन परिगृहीत किया हो तब उसकी पारी का उल्लंघन करके उसको भोगने से प्रथम अतिचार लगता है, दूसरा अतिचार तो पर पुरुष की ओर अतिक्रमादिक की रीति से आकर्षित हो तब लगता है।

यहां स्थूल याने अपरिमित परिग्रह, उक्त स्थूल परिग्रह नव कार का है:—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, तुष्पद और कुप्य, इनका अपनी अवस्थानुसार विरमण सो ांचवा अणुव्रत है।

तो भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा—क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धन धान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम, और कुप्यप्रमाणातिक्रम।

अर्थः—क्षेत्रादिक का, हिरण्यादिक का, धनादिक का, द्विपदादिक का तथा कुप्य का मानातिक्रम योजन, प्रदान, बंधन, कारण और भाव द्वारा न करना चाहिये।

उसमें क्षेत्र याने धान्य उत्पन्न होने की भूमि वह सेतु–केतु और उभय भेद से तीन प्रकार की है, सेतु क्षेत्र वह है जिसमें कि अरघट्टादिक (रहेट) से पाक तैयार होता है, केतु क्षेत्र वह है जिसमें आकाश के पानी से पाक होता है और उभय क्षेत्र वह है जिसमें उक्त दोनों के योग से पाक होता है।

वास्तु याने गृह, ग्राम, नगर आदि वहां गृह तीन प्रकार का है–खात, उच्छ्रुत और खातोच्छ्रुत, उसमें खात सो भूमिगृह (तलगृह) आदि, उच्छ्रुत सो भूमि के ऊपर बांधा हुआ, और उभय सो तलगृह पर बांधा हुआ महल।

उक्त क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का योजन द्वारा याने, क्षेत्रांतर के साथ मिलान करके अतिक्रम करना अतिचार माना जाता है।

वह इस प्रकार कि–मुझे एक क्षेत्र वा वास्तु रखना चाहिये ऐसे अभिग्रह वाले को इससे अधिक की अभिलाषा होने से व्रत

भंग होने के भय से प्रथम के क्षेत्र वा स्थान के समीप दूसरा लेकर प्रथम वाले के साथ मिलाने के लिये वाड़ आदि दूर करके उसमें जोड़ देने से व्रत की अपेक्षा रखने से तथा कुछ रूप से विरति को बाधा करने से अतिचार लगता है।

हिरण्य याने चांदी, सुवर्ण प्रसिद्ध है, उनके प्रमाण का प्रदान याने दूसरे को दे देने के द्वारा अतिक्रम करना सो अतिचार है जैसे कि–किसी ने चातुर्मास की सीमा बांध कर हिरण्यादिक का प्रमाण किया हो, उसको उस समय संतुष्ट हुए राजादिक से उसकी अपेक्षा अधिक प्राप्त हो जाय, तब व्रत भंग के भय से वह दूसरे को कहे कि–मेरे व्रत की अवधि पूर्ण हो जाने पर मैं ले लूंगा तब तक तू सम्हाल यह कह वह दूसरे को दे दे, तो यहां व्रत की अपेक्षा रहने से अतिचार है।

धन चार प्रकार का है गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य वहां गणिम याने सुपारी आदि, धरिम सो मंजिठ आदि, मेय सो घृत आदि और परिच्छेद्य सो माणिक आदि, धान्य सो जव आदि, इनके प्रमाण का बंधन द्वारा अतिक्रम करना सो अतिचार है जैसे कि–किसी को परिमाण करने के अनन्तर प्रथम किसी को दिया हुआ अथवा अन्य किसी के पास से मिले तो व्रत भंग के भय से वह दूसरे को कहे कि–चारमास के उपरान्त अथवा घर में भरा हुआ धान्य बिक जाने पर मैं ले लूंगा, तब तक तू रख इस भांति बंधन याने ठहराव करके अथवा मूठे में भरकर वा सत्यंकार (सट्टा) करके अंगीकृत कर जब देने वाले के घर ही पर रहने दे, तब अतिचार मानना चाहिये।

द्विपद याने पुत्र, कलत्र, दासी, दास, तोता, मैना, आदि चतुष्पद याने बैल, घोड़ा आदि उनके प्रमाण का कारण द्वारा याने गर्भाधान द्वारा अतिक्रम सो अतिचार मानना चाहिये।

जैसे कि-किसी ने एक वर्ष की सीमा बांध कर द्विपद चतुष्पद का परिमाण किया अब जो उस वर्ष के भीतर ही वे बच्चा दें तो अधिक होने से व्रत भंग होता है अतः उस भय से कुछ समय व्यतीत कर पश्चात् गर्भ ग्रहण करावे तो अतिचार होता है क्योंकि-गर्भ में भी अधिक द्विपदादिक हुए और बाहिर नहीं, ऐसा विचार करने से व्रत का भंग तथा अभंग दोनों ही विद्यमान रहते हैं।

कुप्य याने बिछौना, आसन, भाले, तलवार, बाण, कटोरे आदि सामान; उनके प्रमाण का भाव से रूप बदला कर अतिक्रम करना सो अतिचार है। जैसे कि- किसी ने दश कटोरों का मान किया, अब किसी भांति उनके अधिक होने पर व्रत भंग के भय से उनको तुड़वा कर बड़े बनवा करके दश ही विद्यमान रखे तो, संख्या पूरी रही और स्वाभाविक संख्या टूटी, जिससे अतिचार होता है।

इस प्रकार पांचों अणुव्रत कहे। ये मूल गुण कहलाते हैं। क्योंकि-ये श्रावक धर्मरूप तरु के मूल समान हैं। दिग्व्रतादिक तो उनकी सहायता के कारण होने ही से कायम किये गये हैं। अतः वे श्रावक धर्म रूप वृक्ष के शाखा-प्रशाखा रूप होने से उत्तर गुण कहलाते हैं। उत्तर रूप गुण सो उत्तर गुण अर्थात् वृद्धि के हेतु सो उत्तर गुण, गुण व्रत आदि सात हैं—

वहां प्रथम ऊपर, नीचे और तिरछी दिशा में जाने का परिमाण करने रूप दिग्व्रत कहलाता है। उसके भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथा :—

ऊर्ध्वदिक प्रमाणातिक्रम, अधोदिक प्रमाणातिक्रम, तिर्यकदिक प्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतर्धान।

उनमें प्रथम तीन अतिचार तो प्रसिद्ध ही हैं, केवल ऊर्ध्वादिक दिशाओं के गमन के आधार से प्रमाण का अतिक्रम सो अनाभोगादिक से अथवा अतिक्रम—व्यतिक्रमादिक से प्रवृत्त को जानना चाहिये, अन्यथा भंग ही होता है, यह सारांश है।

क्षेत्रवृद्धि की भावना इस प्रकार करना चाहिये जैसे कि किसी ने सकल दिशाओं में प्रत्येक में सौ योजन के आगे जाने का प्रतिबंध किया, जिससे वह पूर्व दिशा में माल लेकर सौ योजन पर्यन्त गया वहां उसे जान पड़ा कि-और आगे जाने पर माल महँगा बिकेगा, तब पश्चिम में मैं नब्बे योजन ही जाऊंगा, यह मन में सोचकर वह पूर्व दिशा में दश योजन क्षेत्रवृद्धि करके एक सौ दश योजन पर्यंत जावे, तो उसको व्रत के सापेक्षपन से [illegible] रूप अतिचार लगा हुआ माना जाता है।

[illegible] याने स्मरण का अंतर्ध्यान सो स्मृत्यंतर्ध्यान जैसे कि [illegible] ने पूर्व दिशा में सौ योजन पर्यंत जाने का परिमाण किया [illegible] आगे [illegible] प्रमाद वश उक्त बात स्पष्टतया याद [illegible] कि-सौ योजन का परिमाण किया हुआ है या पचास [illegible]? [illegible] भाग में स्थित संशय में पचास योजन [illegible] आगे जो आगे जावे तो अतिचार लगता है [illegible] आगे जावे तो फिर भंग ही होता है।

[illegible] उपभोग-परिभोग व्रत कहते हैं—वह [illegible] भोजन से और कर्म से। वहां उप याने एक बार [illegible] सो उपभोग, वह अन्न पानी आदि हैं। परि [illegible] आदि [illegible] सो परिभोग। वह [illegible]

[illegible] उपभोग परिभोग शब्द से [illegible]

आदि लें, तो कर्म से ये व्रत किस प्रकार कहे जायेंगे ? क्योंकि– कर्म शब्द को तो तुम क्रिया वाचक मानते हो, अतः कर्म का उपभोग परिभोग तो हो नहीं सकता।

उसे यह कहना चाहिये कि– यह बात सत्य है: किन्तु कर्म– व्यापार आदि सो उपभोग परिभोग के कारण हैं। जिससे कारण में कार्य का उपचार करने से कर्म शब्द ही से उपभोग परिभोग बताना चाहते हैं। इतनी ही चर्चा बस है।

उपभोग परिभोग का व्रत याने नियतपरिमाण करना सो उपभोग परिभोग व्रत।

यहां भोजन से श्रावक ने बन सके तो प्राशुक और एषणीय आहार खाना चाहिये। यह न बन सके तो अनेषणीय होने पर भी अचित्त काम में लेना, वैसा न बने तो अन्त में बहु सावद्य असन–पान का तो वर्जन करना ही चाहिये।

वहां असन में— सूरनकंद, वज्रकंद आदि समस्त कंद, हरी हल्दी, गीली सोंठ, गीला कचूर, सतावरी, बिदारी कंद, घीकुंवार थूवर, गिलोय, लहसन, बांस, करेला, गाजर, लवणकंद, लोढ़कंद, गिरि कर्णिका, कोंपल, कसेरु, थेग, गीली मोथ, लवण वृक्ष की छाल, खिल्लूड़ा, अमृतवेल, मूली, भूमि फोड़ा, विरूढ़ा, ढंक, ताजा बथुआ, सूकर वेल, पल्लंक, कच्ची इमली, आलू, पिंडालू तथा जिनका समान भाग हो जाय और बीच में तंतु न रहे ऐसी कोई भी वनस्पति जिनेश्वर ने अनन्त काय कही है।

इस प्रकार शास्त्र में कहे हुए अनन्त-काय तथा बहु-बीज और मांसादिक वर्जनीय हैं।

... में, मांस का रस आदि तथा खादिम में वड़, पीपल,

अचेतन विचार कर सचित्त कण वाला, बिना पकाया हुआ खाने से अतिचार है। और दुष्पक्व याने कच्ची, पकी पकाई हुई औषधि अर्थात् पोहुआ आदि खाना सो अतिचार है। व तुच्छ याने ऐसी तृप्ति नहीं करने वाली मूंगफली आदि हलकी औषधियां खाना सो अतिचार है।

कोई कहे कि-जो यह सचेतन है, तो उसका खाना प्रथम अतिचार में आ जाता है, और अचित्त हो तो, फिर यह अतिचार ही कैसा? उसको यह उत्तर है कि-यह बात सत्य है, किन्तु जो सावद्य से अत्यंत डर कर सचित्त का प्रत्याख्यान करे उसको यह अचेतन होते भी खाते हुए यथोचित तृप्ति न करने से उसका केवल लौल्यपन ही जाना जाता है, अतः इनको अचित्त करके भी न खाना चाहिये, यदि खावें तो परमार्थ से व्रत की विराधना होने के कारण अतिचार है।

इस प्रकार रात्रि भोजन व मांसादिक के व्रत में तथा वस्त्रादि परिभोग के व्रत में अनाभोग व अतिक्रमादिक अतिचार जान लेना चाहिये।

कर्म से पन्द्रह अतिचार वर्जनीय हैं, वे अंगार कर्म आदि हैं।

अंगार कर्म वह है जहां कि अंगारे करके बेचने में आवे (१)

वन कर्म वह है जिसमें सारा वन खरीद, उसे काटकर व बेचकर उसके लाभ से आजीविका की जाय (२)

शकट कर्म वह कि-जिसमें गाड़ियां बेच कर निर्वाह किया जावे। (३)

भाटी कर्म वह कि-जिसमें अपनी गाड़ी से दूसरों का सामान उठावे अथवा बैल या गाड़ी भाड़े से दे (४)

स्फोटी कर्म वह कि–जिसमें खोदने का काम अथवा हल से भूमि जोतने का काम होता है। (५)

दंतवाणिज्य वह कि– जिसमें भील लोगों को हाथी दांत लाने के लिए आगे से पैसे दिये जावें जिससे वे उसके लिये हाथी मारते हैं। इसी भांति शंख तथा चमड़ आदि के लिये पहिले से पैसा देना वह भी इसमें सम्मिलित है। (६)

लाक्षावाणिज्य प्रसिद्ध ही है (अर्थात् लाख का व्यापार) (७)

रसवाणिज्य याने मदिरादिक का व्यापार। (८)

केशवाणिज्य याने दासी आदि जीवों को लेकर दूसरी जगह बेचना। (९)

विषवाणिज्य प्रसिद्ध है। (१०)

यंत्रपीड़न कर्म वह है जिसमें कि– घाणी अथवा यंत्र में तिलादिक पीला जाता है। (११)

निर्लाञ्छन कर्म याने बैल घोड़े आदि को खस्सी करना। (१२)

दवाग्निदान याने भूमि में ताजा घांस ऊगाने के लिये कुछ वन में अग्नि लगाना। (१४)

सरोह्रद तड़ागादि शोषण यह भी उनमें धान्यादि बोने के लिये किया जाता है। (१५)

असती पोषण याने कितनेक दासी को पालते हैं, उस संबंध का भाड़ा लेते हैं, यह चाल गोल्ल देश में है। (१५)

ये पन्द्रह कर्मादान हैं, क्योंकि– ये छःकाय की हिंसारूप महा सावद्य के हेतु हैं अतः वर्जनीय हैं। ये भी उपलक्षण के रूप में हैं अतएव दूसरे भी ऐसे सावद्य कर्म वर्जना ही चाहिये।

यहां कोई यह कहे कि- अंगार कर्म तो खर कर्म रूप ही है। अतः जिसने खर कर्म का प्रत्याख्यान किया हो, उसने इसका भी प्रत्याख्यान कर ही लिया है, अतः वह करते भंग ही माना जाता है, अतिचार कैसा?

उसको यह उत्तर है कि-जान बूझ कर करे तो भंग ही है और अनाभोगादिक से उसमें प्रवृत्त होवे तो अतिचार गिना जाता है।

इस प्रकार उपभोग परिभोग व्रत कहा, अब अनर्थदंड विरमण व्रत कहते हैं-

वहां अर्थ याने प्रयोजन, वह जहां न हो सो अनर्थ और दंड वह जिससे आत्मा दंडित हो, अर्थात् पापबंधादिरूप निग्रह सो अनर्थ दंड।

अनर्थ याने निष्प्रयोजन अपने जीव को दंड देना, सो अनर्थ दंड, वह चार प्रकार का है:—अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान और पापकर्मोपदेश, इन चार प्रकार के अनर्थ दंडों से विरमण सो अनर्थ दंड विरमण है।

अपध्यान वह है कि-जिसमें कब साथ जाता है? क्या माल ले जाता है? कहां जाता है? कितने स्थान हैं? लेनदेन का कौनसा समय है? कहां क्या २ वस्तु आती है? कौन लाता है? इत्यादि अंडबंड निष्प्रयोजन चिंतवन किया जाय।

प्रमाद याने मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। उनसे अथवा उसका आचरण सो प्रमादाचरित अथवा आलस्य में रहकर कर्त्तव्य भूलना सो प्रमादाचरित जानो। वह प्रमादाचरित बहु-जीव के उपघात का कारणभूत है और वह यह है कि-घी, तैल के बरतन खुले रखना इत्यादि।

हिंसन शील सो हिंस्र याने शस्त्र, अग्नि, हल, ऊखल, वि[illegible] आदि। ऐसी वस्तुएं दूसरों को देना सो हिंस्रप्रदान।

कृषि आदि कार्य पाप का हेतु होने से पाप कर्म गिना जाता है, उसका उपदेश सो पापकर्मोपदेश। इस तरह चार प्रकार से अनर्थदंड है, उससे विरमना सो अनर्थदंड विरमण।

इसके भी पांच अतिचार वर्जनीय हैं यथाः– कंदर्प, कौकुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरणता और उपभोग-परिभोगातिरेक।

वहां कंदर्प अर्थात् काम—उसके उद्दीपक हास्यप्रद तथा विविध वाक्य प्रयोग भी काम के हेतु होने से कंदर्प कहलाते हैं।

दूसरों को हंसाने वाली अनेक भांति की नेत्र-संकोच के साथ भांडों के समान चेष्टाएं करना सो कौकुच्य।

ये दो अतिचार प्रमादाचरित के हैं क्योंकि ये उसी [illegible] के हैं।

मुख से बक बक करने वाला सो मुखर याने वाचाल उसका [illegible] सो मौखर्य—याने कि धृष्टता पूर्ण असत्य—असंबद्ध बक[illegible] यह पापकर्मोपदेश का अतिचार है क्योंकि—मुखरपन होने ही से पापकर्मोपदेश होता है।

जिसके द्वारा आत्मा नरक का अधिकारी हो वह अधिकरण [illegible], मूसल, ऊखल, अरघट्ट आदि हैं वे संयु[illegible] [illegible] करने के वास्ते तैयार करके रखना उसे संयुक्ताधिक[illegible] [illegible] नहीं रखना चाहिये।

[illegible] तैयार ओजारों को देखकर उनको दूसरे [illegible] तैयार होते हैं, यह हिंस्रप्रदान का अतिचार है।

उपभोग परिभोग का अतिरेक याने अधिकता सो उपभोग-परिभोगातिरेक । यहां यह जानना है कि- अपने उपभोग में आने से अधिक तांबूल, शीटक मंडकादि आदि उपभोग के अंग, तालाब आदि स्थान में नहीं ले जाना, अन्यथा यहां उनको मसखरे भी खाने लगे और जिससे अपने को निरर्थक कर्म-बंधन का दोष लगे । यह भी विरूप रूप होने से प्रमादाचरित का अतिचार है, अपध्यान व्रत में अनाभोगादि से प्रवृत्ति हो सो अतिचार है । आकुट्टि से प्रवर्तित होते भंग ही माना जाता है । इस प्रकार कंदर्पादिक में भी संभवानुसार आकुट्टि से प्रवृत्ति करना सो भंग रूप ही जानो । इस प्रकार अनर्थदंड व्रत कहा ।

ये दिग्व्रतादिक तीनों गुणव्रत कहलाते हैं, क्योंकि - वे अणुव्रतों को गुण याने उपकार करते हैं, और अणुव्रतों को गुण व्रतों से उपकार होता है, यह स्पष्ट है, क्योंकि-विवक्षित क्षेत्रादिक से दूसरी जगह हिंसा रुकती है ।

इस प्रकार गुणव्रत रूप तीन उत्तरगुण कहे ।

अब उत्तर गुणरूप चार शिक्षा व्रत कहते हैं. यहां शिक्षा याने अभ्यास, उस सहित व्रत सो शिक्षाव्रत अर्थात् बारम्बार सेवन करने योग्य व्रत, ये सामायिक आदि चार हैं ।

वहां सम याने राग द्वेष रहित जीव का आय याने लाभ सो समाय, सम पुरुष प्रतिक्षण चिंतामणि व कल्पवृक्ष से अधिक प्रभाव वाले और निरुपम सुख के हेतु रूप अपूर्व ज्ञान दर्शन व चारित्र के पर्याय से जुड़ते हैं, समाय है प्रयोजन जिस क्रियानुष्ठान का सो सामायिक है. वह सावद्य परित्याग और निरवद्य के आसेवन रूप व्रतविशेष है, गृहवास रूप महासमुद्र के निरन्तर उछलते अनेक महान् कामों की तरंगों के चलने से

कहा है कि सामायिक लेकर उसमें घर की चिन्ता करे, इच्छानुसार बोले और शरीर को भी वश में न रखे उसका सामायिक निष्फल होता है।

अब देशावकाशिक रूप दूसरा शिक्षाव्रत कहते हैं, यहां दिग्व्रत में लिये हुए सविस्तृत दिक् प्रमाण को देश में याने संक्षेप विभाग में अवकाश याने अवस्थान सो देशावकाश उससे बना हुआ सो देशावकाशिक—अर्थात् लंबे रखे हुए दिक्परिमाण का संकोच करना सो देशावकाशिक व्रत है।

यहां भी पांच अतिचार वर्जनीय है यथा :— आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बहिःपुद्गलप्रक्षेप।

इसका तात्पर्य यह है कि:—उपाश्रय आदि नियत स्थान में रहकर दिक्प्रमाण का संकोच करने के अनन्तर जब व्रत भंग के भय से स्वयं बाहर न जाकर दूसरे के द्वारा संदेशा भेजकर आवश्यकीय वस्तु मंगाने का प्रयोग करे तथा प्रयोजन वश सेवक को निश्चित क्षेत्र से बाहिर भेजे तथा निश्चित क्षेत्र से बाहिर खड़े हुए किसी व्यक्ति को देखकर व्रत भंग के भय से स्वतः न बुला सकने से उसे बुलाने के हेतु खंकारे अथवा अपना रूप बतावे तथा अमुक व्यक्ति को बुलाने के हेतु ही से क्षेत्र से बाहिर पत्थर आदि पुद्गल फेंके तब पांच प्रकार से देशावकाशिक व्रत को अतिचार लगाते।

इस व्रत के करने का यह मतलब है कि—जाते आते में जीव घातादिक आरंभ न हो।

तब वह आरंभ स्वयं किया अथवा दूसरे से कराया, उसमें परमार्थ से कुछ भी अन्तर नहीं, उलटा स्वयं चलकर जाने से

ईर्यापथ शुद्धि से गुण है व दूसरा तो अजान होकर जैसे तैसे चलता है।

यहां जो केवल दिक परिमाण व्रत का संक्षेप करना बताया है वह उपलक्षण मात्र है, जिससे शेष प्राणातिपातादिक व्रतों का संक्षेपण इसी व्रत में जान लेना चाहिये, अन्यथा दिन और मास आदि के लिये भी उनका संक्षेपण आवश्यकीय होने से अधिक व्रत हो जाने पर बारह व्रत की संख्या टूटेगी।

अब पौषध रूप तीसरा शिक्षा व्रत कहते हैं:—

यहां पौष याने पुष्टि सो उपस्थित विषय में धर्म की जानो। उसे जो धरे याने करे सो पौषध, अर्थात् अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या के दिन करने का व्रत विशेष सो पौषध है।

पौषध चार प्रकार का है:— आहारपौषध, शरीरसत्कारपौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापारपौषध।

[illegible] दो प्रकार का है:— देश से व सर्व से। पौषध में आहार व शरीरसत्कार का देश से व सर्व से परिहार [illegible] और ब्रह्मचर्य तथा अव्यापार का देश से व सर्व से पा[illegible]

[illegible] अतिचार वर्जनीय हैं, यथा—

[illegible]-दुष्प्रत्युपेक्षित-शय्यासंस्तारक, अप्रमार्जित-दुष्प्र[illegible] [illegible] अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित-उच्चार-प्रस्र[illegible] [illegible] दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवणभूमि और पौषध [illegible]

[illegible] है, क्योंकि अप्रत्युपेक्षित याने [illegible]

ने नहीं देखा हुआ और प्रमादी होकर आंख से बराबर नहीं देखा हुआ सो दुःप्रत्युपेक्षित है तथा अप्रमार्जित याने रजोहरणा-दिक से न शोधा हुआ और दुःप्रमार्जित सो उनके द्वारा ठीक ठीक न शोधा हुआ सो जानो।

कोई पूछे कि– पौषध वाले श्रावक के पास क्या रजोहरण भी होता है? उसे यह कहना कि– हां, होता है। क्योंकि सामायिक की समाचारी बोलते हुए आवश्यक चूर्णिकार ने कहा है कि–

" साहूणं सगासाओ रयहरणं निसिज्जं वा मग्गइ,
अह घरे—तो से उवग्गहियं रयहरणमत्थि त्ति "

" साधुओं के पास से रजोहरण वा निषद्या मांग लेना चाहिये. यदि घर पर सामायिक करे तो उसको औपग्रहिक रजोहरण होता है।"

शयन याने शय्या. उसके लिये संस्तारक सो शय्या संस्तारक।

पौषध का सम्यक् अपालन तब होता है, जब कि–उपवासी होकर भी मन से आहार की इच्छा करे वा पारणे में अपने लिये उत्तम रसोई करावे, तथा शरीर में केश रोमादिक को शृंगार बुद्धि से ऊंचे नीचे करे अथवा मन से अब्रह्म वा सावद्य व्यापार का सेवन करे।

अब अतिथिसंविभाग रूप चौथा व्रत कहते हैं—

यहां तिथि-पर्व आदि लौकिक व्यवहार छोड़कर आने वाला, अतिथि, यह श्रावक के घर भोजन के समय आया साधु जानो क्योंकि—

कहा है कि—तिथिपर्वोत्सवा: सर्वे त्यक्तायेन महात्मना ।
आतिथि तं विजानीया—च्छेपमभ्यागतं विदु: ॥

जिस महात्मा ने तिथी पर्व के सर्व उत्सव त्याग किये हों उसे अतिथी जानना चाहिये व शेष को अभ्यागत ।

उस अतिथि को संगत याने निर्दोष न्यायार्जित कल्पनीय वस्तुओं का श्रद्धा और सत्कार पूर्वक भाग याने अंश देना सो अतिथिसंविभाग कहलाता है, भाग देने का यह कारण है कि उससे पश्चात्कर्म न करना पड़े ।

इसके भी पांच अतिचार हैं—

सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सरिकता. वहां सचित्त पृथिव्यादिक में साधु को देने की वस्तु रख छोड़ना सो सचित्तनिक्षेप ।

वैसी ही वस्तु को सचित्त कुष्मांडफल आदि से ढांक रखना सो सचित्तपिधान ।

काल याने साधु को उचित भिक्षा समय का अतिक्रम याने नहीं देने की इच्छा से पहिले अथवा पीछे खा कर उल्लंघन करना सो कालातिक्रम ।

पर का याने दूसरे का है ऐसा व्यपदेश करना, अर्थात् साधु को देने योग्य वस्तु अपनी होते हुए न देने की इच्छा से "पराई है मेरी नहीं" इस प्रकार साधु के सन्मुख बोलना सो परव्यपदेश ।

मत्सर याने साधुओं के मांगने पर क्रुद्ध हो जाना अथवा [illegible] होते हुए देना है तो मैं क्या उससे भी हीन हूँ कि न

दूँ ? इस तरह अहंकार करना सो मत्सर, वह मत्सरवाला सो मत्सरिक और मत्सरिकपन सो मत्सरिकता।

इस प्रकार संक्षेप से द्वादश व्रत कहे, उनका विस्तार से वर्णन आवश्यक की निर्युक्ति, भाष्य तथा टीका में है।

इस प्रकार श्रावक व्रत के भेद व अतिचार जाने, व्रतपरिज्ञान यहां उपलक्षण के रूप में है, अतः तप संयम आदि के फल आदि को भी तुंगिका नगरी के श्रावकों के समान जाने।

तुंगिया नगरी श्रावक का दृष्टान्त इस प्रकार है—

उस काल में उस समय में तुंगिका नामक एक नगरी थी (नगरी का वर्णन उववाई सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिये) उस तुंगिका नगरी के बाहिर ईशान्य कोण में पुष्पवती नामक चैत्य (मंदिर) था, (चैत्य का वर्णन भी उववाई सूत्र के अनुसार जानो)

उस तुंगिका नगरी में बहुत से श्रमणोपासक बसते थे, वे पैसेदार, दीप्तिवान, मालामाल, विशाल भवन, राचरचीले व वाहन वाले, विपुल सोने चांदी के स्वामी और महान व्यापारी थे, उनके यहां बहुत से खानपान तैयार होते थे और उनके घर बहुत से दास, दासी, गाय, भैंस, बकरी आदि थे, वे किसी से भी परतंत्र न थे—तथा वे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष के ज्ञाता थे जिससे उनको बड़े-२ देव, दानव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महोरग आदि देवता भी जैन सिद्धांत से डिगा नहीं सकते, वे जैन सिद्धांत में शंका-कंखा विचिकित्सा से रहित थे, वे जैन सिद्धांत के अर्थ को गुरु से सुनकर उसे भली भांति धारण कर रखने

अतः हे देवानुप्रिय! वैसे स्थविर भगवन्तों का नाम गोत्र सुनने मात्र से ही वास्तव में महाफल होता है तो भला उनके सामने जाना, वन्दन करना, नमन करना, पूछना, पर्युपासना करना उसमें कहना ही क्या है? अतः चलो, हम उनको वन्दना करें, नमन करें यावत् सेवा करें।

यह कार्य अपने को इस भव व परभव में कल्याणकारी होगा, यह कहकर उन्होंने परस्पर यह बात स्वीकार की, पश्चात् वे अपने २ घर आये वहां नहा धोकर, बलि कर्म, कौतुक मंगल और प्रायश्चित कर पवित्र मांगलिक वस्त्र पहिर कर, शरीर में थोड़ किन्तु बहुमूल्य आभरण धारण कर वे अपने २ घर से निकल कर सब एकत्रित हुए, पश्चात् पैदल चलकर वे तुंगिका नगरी के मध्य से होकर नगरी के बाहिर आये।

पश्चात् वे पुष्पवती चैत्य में आकर स्थविर भगवंतों की ओर पांच अभिगम से जाने लगे, वह इस प्रकार कि—सचित्त पदार्थ दूर रखे, अचित्त पदार्थ साथ रखे, एक उत्तरासंग किया, दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़े और मन को एकाग्र किया, इस प्रकार वे स्थविर भगवानों के समीप पहुँचे।

पश्चात् वे उनको तीन बार प्रदक्षिणा देकर वंदना नमन करने लगे और मानसिक वाचिक तथा कायिक ये तीन प्रकार की पर्युपासना करने लगे।

काया से वे हाथ जोडकर, सुनने को उद्यत हो, नमते हुए सन्मुख रह विनय से अंजलि जोड़ सेवा करने लगे, वचन से वे स्थविर भगवंत जो कुछ कहते उसे वे "आप कहते हो वह ऐसा ही है, सत्य है, उसमें कुछ भी शक नहीं, हमें इष्ट है और वह स्वीकृत है," जो आप कहते हो यह कहकर अप्रतिकूलता से सेवन करते।

मन से महासंवेग धारण कर तीव्र अनुराग से सेवा करते थे।

तब वे स्थविर भगवंत उन श्रमणोपासकों को और उस महान् परिषदा को चतुर्याम धर्म सुनाने लगे।

तब वे श्रमणोपासक उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछने लगे—

जो संयम का फल अनाश्रव है और तप का फल निर्जरा है तो किस कारण से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं?

तब उनमें से कालिक पुत्र नामक स्थविर उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार कहने लगे—

हे आर्यों! पूर्व तप से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

आनन्दरक्षित नामक स्थविर इस प्रकार बोले:—

पूर्व संयम से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं॥

महल नामक स्थविर इस प्रकार बोले:—

कार्मिका क्रिया से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

काश्यप नामक स्थविर इस प्रकार बोले—

हे आर्यों! सांगिका क्रिया से देवता देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अतः पूर्व तप, पूर्व संयम, कार्मिकी और सांगिकी क्रिया से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं, यह बात सत्य है, आत्मभाव से देव नहीं हुआ जाता।

तब वे श्रावक स्थविरों से ऐसे उत्तर पाकर, हर्षित हो, उनको वन्दना तथा नमन कर, प्रश्न पूछ व अर्थ ग्रहण करके उठ खड़े हुए।

वे उठकर स्थविरों को तीन बार वन्दना कर, नमन कर, पुष्पवती चैत्य से लौटकर जिस दिशा से आये उसी दिशा को चले गये ।

तदनन्तर वे स्थविर वहां से विहार कर आसपास के प्रदेश में विचरने लगे ।

(इस प्रकार भगवती सूत्र के पाठ से कथा कहकर अब आचार्य उपसंहार करते हैं—)

इस प्रकार गुणगण से आढ्य, जिन प्रणीत सात तत्त्व में विदग्ध, प्रतिज्ञा में अभग्न रहनेवाले तुंगिका के श्रावक सुख के भाजन हुए ।

इस प्रकार तुंगिका-नगरी के श्रावकों की शास्त्र संबंधी पवित्र विचारों में कुशलता सुनकर जिन भाषित व्रत के भंग, भेद और अतिचार आदि के निर्मल तत्त्व ज्ञान में भव्य जनों ने निमग्न होना चाहिये ।

इस प्रकार तुंगिका नगरी के श्रावकों का दृष्टांत है ।

व्रत कर्म में ज्ञान रूप दूसरा भेद कहा, अब ग्रहण रूप तीसरा भेद कहने के हेतु आधी गाथा कहते हैं ।

गिण्हइ गुरूण मूले इत्तरमिअरं व कालमह ताइं ।

मूल का अर्थ—गुरु से थोड़े समय के लिये अथवा यावज्जीवन वह व्रत लेता है ।

टीका का अर्थ—ग्रहण करता है याने स्वीकारता है गुरु के मूल में अर्थात् आचार्यादिक से, आनन्द श्रावक के समान—यहां

कोई शंका करे कि-भला श्रावक देशविरति का परिणाम होवे तब व्रत ले कि उसके बिना भी लेता है। जो देशविरति का परिणाम हो, तो फिर गुरु के पास जाने का क्या काम है? जो साध्य है वह अपने आप ही सिद्ध हो गया है, क्योंकि-व्रत लेकर भी देश विरति का परिणाम ही साधने का है वह उसे स्वयं ही सिद्ध हो गया है व उससे गुरु को भी कष्ट तथा योग में अंतराय डालने का दोष दूर होगा। अब दूसरा पक्ष लेते हो तो दोनों को मृषावाद का प्रसंग उपस्थित होगा साथ ही परिणाम बिना पालन भी नहीं हो सकेगा।

यह सब दूसरों की शंका अनुचित है, क्योंकि-दोनों प्रकार से लाभ दृष्टि आती है वह इस प्रकार है देशविरति परिणाम आया हुआ होने पर भी गुरु से व्रत लेने से उसका माहात्म्य रहता है तथा मुझे सद्गुणवान् गुरु को आज्ञा पालना ही चाहिये, इस प्रकार प्रतिज्ञा के लिये निश्चय होने से व्रतों में दृढता होती है तथा जिनाज्ञा भी आराधित होती है।

कहा है कि:--

गुरु की साक्षी से धर्म करने से सर्व विधि संपन्न होने से वह अधिक उत्तम होता है वैसे ही साधु के समीप त्याग करने से तीर्थंकर की आज्ञा भी (आराधित) होती है व गुरु का उपदेश सुनने से प्रगटे हुए विशेष कुशल [illegible] से कर्म का अधिकतर क्षयोपशम हो [illegible] और [illegible] त लेने इच्छुक भी अधिक व्र[illegible] [illegible] गुण गुरु से व्रत लेने [illegible] है।

वैसे ही जो अभी [illegible] तो भी गुरु का उपदेश [illegible]

सरल हृदय जीव को अवश्य प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार क शिष्य दोनों को मृषावाद नहीं लगता क्योंकि वहां किसी भी कार गुण का लाभ रहता है।

तो भी शठ (कपटी) पुरुष को गुरु ने व्रत नहीं देना ाहिये, कदाचित् छद्मस्थपन के कारण शठ की शठता न हिचानने से गुरु उसे व्रत दे तो भी वे निर्दोष माने जावेंगे योंकि गुरु के परिणाम तो शुद्ध ही हैं यह बात हम अपनी ल्पना से नहीं कहते।

क्योंकि श्रावक प्रज्ञप्ति में कहा है कि, परिणाम होते भी गुरु लेने में यह गुण है कि-दृढ़ता होती है, आज्ञा रूप से शेष पालन होता है और कर्म के क्षयोपशम की वृद्धि होती है।

इस प्रकार यहां अधिक फल होने से दोनों को हानि होने ा दोष नहीं रहता. वैसे ही परिणाम न होने पर भी गुण होने ा मृषावाद नहीं लगता।

जिससे उसके ग्रहण से वह भाव कालांतरे अशठ भाव वाले ो प्राप्त होता है, अन्य याने शठ को वह देना ही नहीं चाहिये, दाचित गुरु ठगा जाय तो भी उनके अशठ होने से उनको दोष हीं।

विस्तार से पूर्ण हुआ, अब कैसे लेना सो कहते हैं :—
रिज्ञान करने के अनन्तर इत्वर काल पर्यंत अर्थात् चातुर्मासा- दिक की सीमा बांधकर अथवा यावत्कथिक याने यावज्जीवन पर्यंत त लेना याने उसने व्रत लेना चाहिये।

आनन्द श्रावक का दृष्टान्त इस प्रकार है :—

वाणिज्यग्राम नगर में अर्थिजनों को आनन्द देने वाला आनन्द नामक गृहपति था, उसके शिवनन्दा नामक भार्या थी।

उसके यहां चार करोड़ धन निधान में रहता और चार करोड़ वृद्धि के उपयोग में आता था, चतुष्पद के विस्तार में उसके यहां दश दश हजार गायों के चार गोकुल थे और पांच सौ हल थे तथा चारों दिशाओं से घांस आदि लाने के लिए पांच सौ गाड़े थे और चार विशाल जहाज थे।

अब एक समय वहां दूतिपलाश नामक उद्यान में महान् अर्थ वाले, पदार्थ समूह को विस्तार से प्रकट करने वाले वीरस्वामी पधारे। प्रभु को नमन करने को जाते हुए राजा आदि लोगों को देखकर आनन्द गृहपति भी आनन्द से वहां गया। तब भगवान उसको इस प्रकार धर्म कहने लगे-

कष, छेद, ताप और ताडन से शुद्ध किये हुए सोने के समान श्रुत, शील, तप और करुणा से जो रम्य धर्म हो उसे ग्रहण करना। [illegible] तीन प्रकार के उपद्रव दूर करने में समर्थ और विमल धर्म दो प्रकार का है :- सुसाधु का धर्म और सुश्रावक का धर्म। सुसाधु का धर्म दश प्रकार का है और श्रावक का धर्म बारह प्रकार का है। ऐसा सुनकर साधु धर्म को लेने में असमर्थ आनन्द ने प्रमोद से [illegible] मूल श्रावक का धर्म ग्रहण किया।

यथाः- निरपराधी त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का [illegible] और तीन योग से त्याग किया तथा स्थावर जीवों की [illegible] हिंसा करने का भी त्याग किया। कन्यालीक आदि पांच प्रकार के अलीक वचनों का द्विविध त्रिविध त्याग किया तथा [illegible] अदत्तादान का त्याग किया वैसे ही शिवानन्दा को छोड़कर [illegible] का त्याग किया।

[illegible] में अनेक परिग्रहों का त्याग किया साथ ही [illegible] दशों दिशाओं का परिमाण नियत किया, [illegible]

में अभ्यंग के लिये शतपाक और सहस्र पाक तेल छुटे रक्खे। उद्वर्तन के लिये गंधाढ्य छुट्टा रखा और नहाने के लिये पानी के आठ घड़े रखे।

अंगलूहण के लिये गंधकषाय, दातौन के लिये मधु यिष्टी, वस्त्र के लिये क्षौम युगल तथा विलेपन के लिये चन्दन, श्रीखण्ड रखा। अलंकार में कर्णाभरण व नाम मुद्रा तथा फूलों में पुंडरीक व मालती के पुष्पों की माला की छुटी रखी। धूप में अगर और तुरुष्क, दाल में कुलथी, मूंग और उड़द की दाल, कूर में कलम-शाली और घृत में शरद ऋतु का गाय का घी रखा।

भक्ष्य में घृत पूर्ण खंडखाद्य, शाक में सौवस्तिक का शाक, सालण (अथाणा) में पल्लंक और आहुरक में वटक आदि दानों की छूट रखी। तंबोल में कर्पूर, लौंग, कंकोल, इलायची और जायफल, फल में क्षीरामल और पानी में आकाश के जल की छूट रखी।

इतनी वस्तुओं के सिवाय शेष वस्तुओं का भोजन से भोगोपभोग में त्याग किया और कर्म से पन्द्रह कर्मादान तथा खरकर्म का त्याग किया तथा उस अवद्य-भीरु ने अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान और पापोपदेश. इस प्रकार चारों प्रकार के अनर्थदंड का त्याग किया व उसने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि संविभाग व्रत यथोचित विधी के साथ अंगीकार किये।

अब प्रभु बोले कि- हे आनन्द ! सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों के पांच २ अतिचार तूंने वर्जन करना चाहिये।

आपकी शिक्षा चाहूँ, यह कह आनन्द श्रावक वीर-प्रभु को वन्दना करके अपने घर को आया और उसने अपनी स्त्री को प्रभु के पास (धर्म सुनने के लिए) भेजा।

वह भी वीर-प्रभु को वन्दना कर उसी प्रकार धर्म स्वीकार कर घर आई और वीरप्रभु जगज्जन को बोध देने के लिये, अन्यत्र विचरने लगे। इस प्रकार कर्म को बराबर चूरने में समर्थ, सद्‌ कार्य-रत उक्त आनन्द श्रावक को सुख-पूर्वक चउदह वर्ष व्यतीत हो गये। अब एक समय रात्रि को धर्म-जागरिका जागता हुआ विचारने लगा कि- यहां बहुत से विक्षेपों के कारण मैं विशेष ध० नहीं कर सकता।

अतः ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप कर कोल्लाक नामक समीपस्थ पुर में जाकर अपना हित साधन करूं। यह सोच उसने वैसा ही किया। उसने कोल्लाक सन्निवेश में जाकर अपने सम्बन्धियों को यह बात कह, पौषधशाला में रह कर ये ग्यारह प्रतिमाएँ धारण कीं। दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, पौषध प्रतिमा, प्रतिमा प्रतिमा, अब्रह्म वर्जन प्रतिमा, सचित्त वर्जन प्रतिमा, आरम्भ वर्जन प्रतिमा, प्रेष्य वर्जन प्रतिमा, उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा और श्रमण-भूत प्रतिमा।

शंकादिशल्य से रहित, विद्यादि गुण सहित, दया संयुक्त सम्यक्त्व धारण करना यह पहली प्रतिमा है. उसी प्रकार व्रत धारी होना दूसरी और सामायिक करना तीसरी प्रतिमा है, चतुर्दशी, अष्टमी, पौर्णिमा व अमावस्या के दिनों में चार प्रकार के परि- पूर्ण पौषध का सम्यक् पालन करना चौथी प्रतिमा है और पौषध के समय एक रात्रि का प्रतिमा धारण करके रहना पांचवीं प्रतिमा है, स्नान नहीं करना, गर्म पानी पीना और प्रकाश में खाना यानि दिन में ही खाना, रात्रि में नहीं. सिर पर मौलिबंध नहीं बांधना, पौषध नहीं हो तब दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात्रि में परिमाण करना, वैसे ही पौषध हो तब रात्रि-दिवस नियम से ब्रह्मचर्य का पालन करना. इस प्रकार पांच मास पर्यन्त रहने पर

पांचवीं प्रतिमा पूर्ण होती है. छठी में छः मास पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

सातवीं में सात मास पर्यन्त सचित्त आहार नहीं खाना व नीचे की प्रतिमाओं में करने के जो २ कार्य हैं, वे सब उपर की में कायम रहते हैं।

आठवीं प्रतिमा में आठ मास पर्यंत स्वतः आरंभ न करे, नवमी में नवमास पर्यन्त सेवकों से भी आरम्भ नहीं करावे।

दशवीं में दश मास पर्यन्त उद्दीष्टकृत अर्थात् आधाकर्मि आहार भी न खावे तथा खुरमुंड होवे वा शिखा धारण करे। इन प्रतिमाओं के रहने पर, वह पूर्व उसने जो निधानगत द्रव्य रखा हो, उसके विषय में उसके उत्तराधिकारी पूछें तो जानता हो तो उनको कह दे और नहीं जानता हो तो कहे कि नहीं जानता। ग्यारहवीं प्रतिमा में खुरमुंड वा लोच करावे, और रजोहरण वा पात्र रख कर श्रमण भून याने साधु समान हो कर विचरे, मात्र स्वजाति में आहार लेने जाय।

यहां अभी ममकार कायम होता है, क्योंकि वह स्वजाति ही में भिक्षा को जाता है, तथापि वहां भी साधु के समान प्राशुक आहार पानी लेना चाहिये। इस प्रकार छट्ठ, अट्ठम आदि दुष्कर तप से प्रतिमाओं का पालन कर शरीर को कृश करके क्रमशः उस धीर श्रावक ने अनशन किया। उस समय उसको शुभ भावना वश अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह उत्तर दिशा के सिवाय शेष दिशाओं में लवण समुद्र में पांच सौ पांच सौ योजन पर्यंत देखने लगा। उत्तर दिशा में चुल्ल-हिमवंत पर्वत पर्यन्त और उपर सौधर्म देवलोक पर्यन्त व नीचे रत्नप्रभा नारकी के लोलुप नरक तक वह जानने देखने लगा।

इतने में वाणिज्यग्राम में वीर प्रभु का समवसरण हुआ। उनकी आज्ञा से भिक्षा लेने के हेतु गौतम स्वामी नगर में आये। वे भिक्षा लेकर वापस फिरे, इतने में उन्होंने लोगों के मुंह से आनन्द का अनशन सुना, जिससे वे कोल्लाक सन्निवेशस्थ पौषधशाला में गये।

तब उनको नमन करके आनन्द श्रावक पूछने लगा कि हे भगवन्! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है? तब वे बोले कि—हां, उत्पन्न होता है। तब उनके सन्मुख उसने अपने को उपजी हुई अवधि का प्रमाण कह सुनाया। तब सहसा गौतम स्वामी इस भांति कहने लगे कि— हे आनंद! गृहवास में निवास करने गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, यह बात सत्य है, परन्तु इतना बड़ा नहीं होता। अतः हे आनन्द! तू इस की आलोचना ले, प्रतिक्रमण कर, निन्दाकर, गर्हा कर, निवृत्ति कर, विशुद्धिकर और यथा योग्य तपकर्म रूप प्रायश्चित अंगीकार कर। तब आनन्द, भगवान् गौतम स्वामी को कहने लगा कि:— हे भगवन्! क्या जिनवचन में ऐसा है कि—वर्तमान तथ्य—तथाभूत सद्भूत भावों की भी आलोचना व प्रायश्चित लेना चाहिये? गौतम स्वामी बोले कि—ऐसा कैसे हो सकता है?

तब आनंद बोला कि— जो ऐसा है तो हे भगवन्! आप ही इसकी आलोचना आदि लीजिये।

तब आनन्द के ये वाक्य सुनकर गौतम स्वामी दुविधा में [illegible] वहां से रवाना होकर दूतीपलाश चैत्य में [illegible] श्री महावीर थे, वहां आये, आकर [illegible] वन्दना व नमन करके इस प्रकार [illegible]

हे भगवन् ! आपकी अनुज्ञा से........इत्यादि सर्व वृत्तान्त कहकर अन्त में उन्होंने कहा कि, इसी से मैं वहां से जल्दी आया हूँ, अतः हे भगवन् ! इसकी आलोचना आनन्द श्रावक ने लेना चाहिये कि मैंने ? तब भगवान् गौतमादिक सब साधुओं को आमंत्रण करने के अनन्तर गौतम को इस प्रकार कहने लगेः--हे गौतम ! उसकी आलोचना तू ही ले--व प्रायश्चित आदि ले और इस विषय में आनन्द श्रावक को खमा।

तए णं से भयवं गोयमे समणस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, (२) तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ — समणेणं भगवया महावीरेणं सद्धिं बहिया जणवयविहारं विहरइ।

तब भगवान गौतम ने वीर प्रभु की बात स्वीकार की उस विषय की आलोचना देकर प्रायश्चित लिया और आनन्द श्रावक के पास जाकर उसे इस सम्बन्ध में खमा आये पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के साथ वे बाहिर के प्रदेश में विचरने लगे।

अब आनन्द श्रावक इस प्रकार बीस वर्ष पर्यंत धर्म का पालन कर एक मास की संलेखना करके समाधि से शरीर को यहां छोड़ सौधर्म देवलोक में अरुणाभ विमान में चार पल्योपम की आयुष्य से देवता हुआ व वहां से च्यवन होने पर महा विदेह से मोक्ष को जावेगा। इस प्रकार हे भव्य जनो ! तुम विचार पूर्वक इस आनन्द श्रावक का उदार चरित्र सुनकर तुम्हारी शक्ति के अनुसार व्रत का भार ग्रहण करो, जिससे कि संसार समुद्र का पार पाओ।

इस प्रकार आनन्द श्रावक का दृष्टान्त समाप्त हुआ।

व्रत कर्म में ग्रहण रूप तीसरा भेद कहा अब प्रतिसेवना रूप चौथा भेद कहने के लिये गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं:--

आसेवइ थिरभावो आयंकुवसग्गसंगे वि ।

मूल का अर्थ.–रोग व उपसर्ग आ पड़ने पर स्थिरता रख कर व्रत का सेवन करे।

टीका का अर्थ:--आसेवन करे याने सेवन करे अर्थात् यथा रीति से पालन करे. स्थिर भाव में रहकर याने निष्कंप मन रखकर, आतंक याने ज्वरादि रोग और उपसर्ग सो दिव्य मानुष, तिर्यगयोनिक तथा आत्मसंवेदनीय रूप से चार प्रकार के हैं उन प्रत्येक के पुनः चार भेद हैं, यथा:—दिव्य, मानुष तिर्यग् तथा आत्मसंवेदनीय उपसर्ग प्रत्येक चार प्रकार के हैं जिससे उपसर्ग सोलह प्रकार के होते हैं।

वहां दिव्य के चार भेद इस प्रकार हैं:–हास्यसे, प्रद्वेपसे, ईर्ष्या से और पृथग् विमात्रा से. उसमें अंतिम भेद का हास्य से आरंभ होता है और प्रद्वेप से समाप्त होते हैं। मानुष्य उपसर्ग के चार भेद इस प्रकार हैं:–हास्य से, प्रद्वेप से, ईर्ष्या से और कुशील प्रति सेवना से। तिर्यंच के उपसर्ग इस प्रकार होते हैं:-भय से, द्वेष से, भोजन के हेतु तथा बच्चे व घर को रखने के हेतु। आत्मसंवेदनीय के चार प्रकार:–वात से, पित्त से, कफ से तथा सन्निपात से जो व्याधियां होती हैं सो जानो अथवा निम्नानुसार जानो घट्टन से, स्तंभन से, श्लेषण से और प्रपतन से. घट्टन सो याने आंख में रज आदि पड़ जाने से जो पीड़ा होती है सो. स्तंभन याने वात से जो अंग अकड़ जाता है सो. श्लेषण याने बहुत समय तक दबाकर रखने से जो अंगोपांग सिकुड़ जाते हैं सो.

जानो वैसे ही स्तंभादि में अथड़ाते देह टूट जाती है सो प्रयतन।

उन आतंक तथा उपसर्गों का संग याने संपर्क होने पर भी निष्कंप रहे, वहां आरोग्य द्विज के समान आतंक के संग में तथा उपसर्ग के संग में " कामदेव श्रावक " के समान निष्कंपायमान रहना चाहिये।

वहां आरोग्य नामक ब्राह्मण का दृष्टांत इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण का शरीर जिस प्रकार सुचक्र से विभूषित था वैसे ही जो सज्जनों के चक्र (समूह) से विभूषित होते हुए लाखों गजों (हाथी) से संयुक्त बहुसंख्य लक्ष्मी से भरपूर उज्जयिनी नामक नगरी थी। वहां देवदत्त नामक ब्राह्मण था, वह जितेन्द्रिय व कुलीन था। उसकी अत्यानन्दकारिणी नन्दा नामक भार्या थी।

उनके एक पुत्र हुआ, वह जन्म से ही रोगग्रस्त रहता था। जिससे दूसरा नाम नहीं रखने से वह रोग नाम से प्रख्यात हुआ.

एक दिन उनके घर कोई मुनि भिक्षा के लिये आये, तब वह ब्राह्मण अपने उक्त पुत्र को उनके चरणों में डालकर बोला कि:— हे प्रभु ! आप कृपा करके इस बालक की रोग-शान्ति का उपाय कहिये। तब मुनि बोले कि—भिक्षा भ्रमण करते हुए मुनियों को बात करने में दोष लगता है, जिससे वह बात नहीं कही जा सकती।

तब ब्राह्मण मध्याह्न के समय अपने पुत्र को साथ में लेकर उद्यान में जाकर मुनि को नमन करके उक्त बात पूछने लगा, तब वे महर्षि इस प्रकार बोले- पाप से दुःख होता है और धर्म से शीघ्र ही नष्ट होता है, अग्नि से जलता हुआ घर, पानी के प्रवाह से बुझाया जाता है। भली-भांति पालन किये हुए धर्म से सकल दुःख शीघ्र ही नष्ट होते हैं और पुण्य से ऐसे दुःख परभव में भी

प्राप्त नहीं होते। यह सुन उन्होंने परितोष पाकर दोनों पिता पुत्र ने श्रावक धर्म स्वीकार किया, जिसमें भी उनका पुत्र अत्यन्त दृढ़ धर्मी हुआ।

वह विचारने लगा कि- तरंगों से कुलाचल को तोड़ने वाला समुद्र उछलता हुआ कदाचित् रोका जा सकता है, किन्तु अन्य जन्म में किया हुआ शुभाशुभ कर्म का दैवी परिणाम अटकाया जा ही नहीं सकता। इस भांति विचार कर वह सम्यक प्रकार से रोग सहन करता था और सावद्य चिकित्सा को वह किसी समय मन से भी नहीं चाहता था।

अब इन्द्र ने किसी समय देव-सभा में उसकी दृढ़ धार्मिकता की प्रशंसा की, तब दो देवता उस बात को न मानकर (परीक्षा के हेतु) यहां वैद्य का रूप धारण करके आये। यहां वे आकर बोले कि- यह बालक जो हमारे कथनानुसार क्रिया करे, तो हम इसे निरोग कर दें। तब उसके स्वजन सम्बन्धी पूछने लगे कि वह क्रिया कैसी है? तब वे नीचे लिखे अनुसार कहने लगे कि प्रथम प्रहर में मधु चाटना चाहिये, अंतिम प्रहर में प्राचीन सुरा पीना चाहिये और रात्रि को मक्खन तथा मांस सहित भात खाना चाहिये।

तब ब्राह्मण पुत्र बोला कि- इनमें से एक भी उपाय मैं नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करने से मेरा व्रत भंग हो जावे, जिससे मैं डरता हूँ, साथ ही इनमें स्पष्ट जीव-हिंसा है। क्योंकि- कहा है कि-

मद्ये मांसे मधुनि च – नवनीते तक्रतो बहिर्नीते।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते – तद्वर्णासूक्ष्मजंतवः ॥ १ ॥

मद्य में, मांस में, मधु में और तक्र से निकाले हुए मक्खन में उन्हीं के समान रंग के सूक्ष्म जंतु उत्पन्न होते व मरते रहते हैं।

विज्जेहि तओ भणियं – देहमिणं धम्मसाहणं भए ।
जह्वा तह्वा पउणिय – पच्छा पच्छित्तमायरसु ॥ १ ॥

तब वैद्य बोले कि– हे भद्र ! यह शरीर धर्म का साधन है, अतः किसी प्रकार भी इसे तन्दुरुस्त (निरोग) करके पश्चात् प्रायश्चित करना ।

कहा भी है– सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चई अइवायाओ – पुणो विसोही न याविरई ॥

सर्व विषयों में संयम रखना किन्तु संयम से भी आत्मा को रखना चाहिये । क्योंकि जो आत्मा बच जाय तो पुनः विशुद्ध हो सकती है और अविरति नहीं होती है । यह बोला कि-जो पीछे से भी विशुद्धि करनी पड़ती है तो हे भद्र ! कादव के स्पर्श के समान पहिले ही से उसे क्यों करना चाहिये ? इस भांति स्वजन व राजा के आग्रह करने पर भी, उसने नहीं माना, इतने में उन देवताओं ने प्रमुदित हो कर अपना रूप प्रकट किया । पश्चात् उन्होंने इन्द्र की करी हुई प्रशंसा कह कर उसको निरोग किया ताकि उसके स्वजन सम्बंधी भी प्रसन्न हुए व राजा भी रोमांचित हो गया । उसे देखकर लोग हर्षित होकर, धर्म का माहात्म्य प्रगट करने लगा, और बहुत से जीव प्रतिबोध पाकर व्रत पालने को उद्यत हुए ।

उसी दिन से यह लोक में आरोग्य द्विज नाम से प्रख्यात हुआ और व्रत पालन कर अनुक्रम से सुख का भाजन हुआ । इस प्रकार से हे भव्य लोकों ! तुम धीर और धर्मेच्छु लोगों के चित्त को चमत्कार करने वाले आरोग्य ब्राह्मण का उत्तम वृत्तान्त सुनकर आनन्द पूर्वक सदैव दृढ़ता से व्रतों को पालन करो । इस प्रकार आरोग्य द्विज का दृष्टान्त हुआ, कामदेव का दृष्टान्त

उपासक दशा सूत्र से जान लेना चाहिये।

इस प्रकार व्रत कर्म सेवन रूप चौथा भेद कहा, उसके कहने से प्रथम कृत व्रतकर्म रूप लक्षण उसके भेद सहित समर्थित किया अब शील वन्त रूप दूसरे लक्षण की व्याख्या करते हैं।

आययणं खु निसेवइ[1] वज्जइ परगेहपविसणमकज्जे[2] ।
निच्चमणुब्भडवेसो[3] न भणइ सवियारवयणाइं[4] ॥ ३७ ॥
परिहरइ बालकीलं[5] साहइ कज्जाइं महुरनीईए[6] ।
इय छव्विहसीलजुओ विन्नेओ सीलवंतोऽत्थ ॥ ३८ ॥

मूल का अर्थः—आयतन सेवे, विना प्रयोजन परगृह में प्रवेश नहीं करे, सदैव अनुद्भट वेश रखे, विकार युक्त वचन न बोले, बालक्रीड़ा का त्याग करे, मधुर नीति से काम की सिद्धि करे, इस प्रकार छः भांति से शील से जो युक्त हो वह यहां शीलवन्त श्रावक जानो।

टीका का अर्थः—आयतन याने धार्मिक जन मिलने के स्थान—क्योंकि कहा है कि:—"जहां शीलवन्त, बहुश्रुत और चारित्र के आचार वाले बहुत से साधर्मी बन्धु रहते हों उसे आयतन जानना चाहिये" खु शब्द अवधारण के लिये है, वह प्रतिपक्ष के प्रतिषेधार्थ है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भाव श्रावक आयतन ही को सेवे—अनायतन को नहीं।

(क्योंकि कहा है कि,) भीलों की पल्लियों में नहीं रहना, चोरों के निवास में नहीं रहना, पर्वतवासी लोगों में नहीं रहना, वैसे ही हिंसक व दुष्ट बुद्धि लोगों के पड़ोस में नहीं रहना क्योंकि सुपुरुष को कुसंगति करने की मनाई है। व जहां दर्शन

निर्भेदिनी या चारित्र निर्भेदिनी विकथा निरन्तर होती हो उसे अति दुष्ट अनायतन जानो। (वे अनायतन न सेवे) यह प्रथम शील है।

तथा परगृह प्रवेश याने दूसरों के घर जाना, यह अकार्य में याने विशेष आवश्यक कार्य के अतिरिक्त वर्जनीय है। क्योंकि— कुछ नष्ट विनष्ट हो जावे तो उनको अपने ऊपर व्यर्थ आशंका रह जाती है यह दूसरा शील है। तथा अनुद्भटवेष याने सामान्य वेष धारण करना यह तीसरा शील है। तथा सविकार वचन अर्थात् राग द्वेष रूप विकार की उत्पत्ति की कारण भूत वाणी न बोले यह चौथा शील है।

तथा बालक्रीड़ा याने मूर्ख जनों को विनोद देने वाले जुआ आदि काम त्यागे यह पांचवा शील है।

तथा काम याने प्रियजनों को मधुर नीति से अर्थात् " हे भले भाई! ऐसा कर " ऐसे साम वचनों से सिद्ध करे यह छठा शील है।

पूर्वोक्त छः प्रकार के शील से जो युक्त हो वह यहां श्रावक के विचार में शीलवान समझा जाता है।

अब इन्हीं छः शील की व्याख्या करते प्रथम आयतन रूप शील को आधी गाथा द्वारा उसके गुण बताकर सिद्ध करते हैं:—

(आययण सेवणाओ–दोसा खिज्जंति वड्ढइ गुणोहो ।)

मूल का अर्थः—आयतन सेवन करने से दोष नष्ट होते हैं और गुण समूह की वृद्धि होती है।

टीका का अर्थः—उक्त स्वरूप आयतन के सेवन—उपासन से मिथ्यात्वादि दोष क्षीण होते हैं और ज्ञानादिक गुणसमूह वृद्धि को प्राप्त होते हैं, सुदर्शन के समान।

सुदर्शन की कथा

परम-शिव सहित ([illegible] [illegible] [illegible]) सती पवित्र (पार्वती से पवित्र) शिव सहित (महादेव सहित) हिमालय की भूमि के समान--पर--[illegible] [illegible] ([illegible] [illegible]) सती पवित्र (सती स्त्रियों से पवित्र) शिव सहित (निरुपद्रव) सौगन्धिका नगरी थी वहां नगर में श्रेष्ठ सुदर्शन नामक मिथ्यादृष्टि सेठ था । वह शुक परिव्राजक का भक्त था व सांख्य सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञाता था । इधर सौराष्ट्र देश में द्वारिका नामक नगरी थी । वहां सम्यक्त्व से पवित्र श्रीकृष्ण राजा राज्य करता था वहां थावचा नामकी एक प्रख्यात सार्थवाहिनी थी, उसका बालक अल्प-वयस्क था, तभी कर्म वश उसका पति मर गया था, जिससे शोकातुर रहते उसने उस बालक का नाम ही नहीं रखा । अतः वह लोक में थावचापुत्र के नाम से प्रख्यात हुआ कालक्रम से वह कला कुशल होकर यौवनावस्था को प्राप्त हुआ तब उसकी माता ने उसका एक ही साथ बत्तीस बड़े २ सेठों की कन्याओं से विवाह किया उनके साथ उसने दोगुंदक देव के समान निश्चितता से अनुपम सुख भोगते हुए बहुत काल व्यतीत किया ।

वहां एक दिन नेमिनाथ जिन पधारे, उनको वन्दना करने के लिये श्रीकृष्ण बड़ी धूम धाम से जाने लगा तथा वहां अन्य भी राजेश्वर, तलवर (जेलर), सार्थवाह, सेठ आदि नगर लोग शीघ्र २ जिनवंदन को रवाना हुए । उनको सजधज कर एक दिशा में जाते देखकर थावचापुत्र अपने प्रतिहार को पूछने लगा कि- ये लोग सजधज कर शीघ्र २ कहां जा रहे हैं ! उसने उत्तर दिया कि-नेमिनाथ भगवान को नमन करने के

लिये जाते हैं तब वह भी रथ पर आरूढ़ हो वहां जाकर भक्ति से विधि पूर्वक भगवान को वन्दना कर एकाग्र हो धर्म श्रवण करने लगा। संसार सफल दुःखों का कारण होने से असार है मोक्ष में महा सुख है और चारित्र का पालन करने से वह प्राप्त होता है।

यह सुन वह संवेग पाकर जिनेश्वर को कहने लगा कि–माता को पूछ कर, मैं आपके पास दीक्षा लूंगा भगवान् बोले कि–यही बात योग्य है। तब थावच्चापुत्र घर जाकर माता को प्रणाम करके पूछने लगा कि– हे माता! मैं दीक्षा लूंगा। तब उसकी माता स्नेह मुग्ध होकर रोती हुई बोली कि- प्रव्रज्या दूसरों को भी बहुत दुष्कर है जिससे तेरे समान सुखी को तो और भी अधिक दुष्कर होगी।

हे पुत्र! तूं निष्ठुर होकर मुझ आशावती को तथा इन बत्तीस विनयवती स्त्रियों को छोड़कर कैसे जावेगा? अतः दान भोग से भी कम न हो ऐसे इस कुलक्रमागत धन को जो कि तेरे पूर्व सुकृत से तुझे प्राप्त हुआ है दान धर्म में व्यय करता हुआ विलास कर और पुत्र परिवार होने के अनन्तर, तेरी उम्र बड़ी होने पर, तेरा आत्म कृतार्थ करना। माता के इस प्रकार कहने पर वह बोला कि– जीवन अनित्य है उसमें ऐसा करना योग्य नहीं।

य अपने हृदय से अपन एक बात सोचते हैं और दैव के योग से दूसरा ही कुछ हो जाता है इत्यादिक युक्ति – प्रयुक्ति की भावना पर से उसका दृढ़ उत्साह जानकर थावच्चा सार्थवाही ने उसे अपनी इच्छा न होने पर भी अनुमति दी। पश्चात् उसने श्रीकृष्ण के पास जाकर पुत्र का सर्व वृत्तांत कह सुनाया और

दीक्षा महोत्सव करने को राज-चिह्न मांगे। तब श्रीकृष्ण संतुष्ट होकर कहने लगे कि- धर्म के हेतु जिसका ऐसा निश्चय है, उसे धन्य है। अतः (हे सार्थवाहिनी!) तू निश्चिंत रह, मैं स्वयं ही दीक्षा महोत्सव करूंगा।

पश्चात् श्रीकृष्ण उसके घर जाकर थावच्चाकुमार को कहने लगे कि- हे वत्स! तू सुख भोग, क्योंकि भिक्षा महा दुःख मय है। तब थावच्चाकुमार बोला कि-हे स्वामी! भय से जो अभिभूत हो उसे सुख कहां से हो? अतः सर्व भय का भगाने वाला धर्म ही करना चाहिये।

श्रीकृष्ण बोलेः- मेरी बाहु-छाया में बसते हुए, हे वत्स! तुझे भय है ही नहीं, और यदि हो तो बतादे, ताकि मैं झट उसका निवारण करदूं। तब थावच्चाकुमार बोला कि-जो ऐसा ही है तो मेरी ओर आती हुई जरा व मृत्यु का निवारण करिये, कि जिससे मैं निश्चिंत मन से, हे स्वामी! भोग सुख भोगूं।

तब राजा बोले कि- हे सुन्दर! इस जीव लोक में ये तो दुर्वार हैं, इनका निवारण करने को इन्द्र भी समर्थ नहीं, तो हम किस प्रकार निवारण कर सकते हैं? क्योंकि संसार में जीवों को कर्म वश जरा-मरण प्राप्त होता है, तब थावच्चाकुमार बोला कि- इसी से मैं कर्मों का नाश करना चाहता हूँ।

उसका इस भांति निश्चय देखकर श्रीकृष्ण बोले कि -तुझे धन्यवाद है, हे धीर! तू प्रसन्नता से प्रव्रज्या ले व तेरा मनोरथ पूर्ण हो।

अब श्रीकृष्ण ने अपने घर आकर, सारी नगरी में इस प्रकार उद्घोषणा कराई कि-" थावच्चाकुमार मोक्षार्थी होकर दिक्षा लेता

है, अतः दूसरा भी जो कोई दीक्षा लेने को उद्यत हो उसे श्रीकृष्ण आज्ञा देते हैं व उसके कुटुम्ब का वे पालन करेंगे ”

यह उद्घोषणा सुनकर संसार से विरक्त चित्त वाले राजकुमार आदि एक हजार व्यक्ति दीक्षा लेने को उद्यत हुए। उन सब का दीक्षा महोत्सव राजा ने कराया। इस प्रकार थावच्चाकुमार एक हजार व्यक्तियों के साथ निष्क्रान्त हुआ।

वह पढ़कर चौदह पूर्वी हुआ। तब भगवान ने अपना परिवार उसे सौंपा, पश्चात् वह उग्र तप करता हुआ महि-मंडल पर विचरने लगे।

उसने बहुत से लोगों को जैन धर्मी किये-वैसे ही सेलकपुर में पांचसौ मंत्रियों सहित सेलग राजा को श्रावक किया। वह मुनिजनों के आचार को प्रकट करता, जगत् के निस्तार का संकल्प धरता, दर्प को झट से प्रतिहत करता, महाबली कंदर्प को जीतता, चन्द्र समान उज्वल चारित्र को पालता तथा चित्त को प्रसन्न रखता हुआ विचरता हुआ सौगन्धिका नगरी में आया।

उसको नमन करने के लिये नागरिक जन दौड़ा दौड़ करते हुए रवाना हुए, यह देख सुदर्शन सेठ भी कौतुक से वहां चला। वह वहां आकर रत्नत्रय के आयतन (घर), भव रूपी तरु को निर्मूल करने को विशाल हाथी के समान और मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश करने को अरुण समान थावच्चाकुमार महा मुनि को देख कर संतुष्ट होकर चरणों में पड़ा (प्रणाम किया)।

वहां सुदर्शन सेठ को तथा उक्त महा पर्षदा को ऊंचे व गम्भीर शब्द से आचार्य इस प्रकार धर्म कहने लगेः—हे

तब सुदर्शन उसे आता देख कर उसके सन्मुख नहीं उठा, सामने नहीं गया, बोला नहीं, नमा नहीं, किन्तु चुपचाप बैठा रहा। उसे बैठा देखकर शुक परिव्राजक बोला कि- हे सुदर्शन! पहिले तू मुझे आता देखकर मान देता था व वन्दना करता था किन्तु इस समय वैसा नहीं करता है, सो तूने ऐसा विनय वाला धर्म किससे स्वीकार किया है?

इसका ऐसा वचन सुनकर सुदर्शन आसन से उठकर, शुक परिव्राजक को इस प्रकार कहने लगा कि- हे देवानुप्रिय! अर्हत् अरिष्टनेमि के अंतेवासी थावच्चापुत्र नामक अनगार यहां आये हुए हैं, जो कि अभी भी यहां नीलाशोक नामक उद्यान में विचरते हैं, उनके पास से मैंने विनय मूल धर्म स्वीकृत किया है।

तब शुक परिव्राजक सुदर्शन को इस प्रकार कहने लगा— हे सुदर्शन! चलो, अपन तेरे धर्माचार्य थावच्चापुत्र के पास चलें, मैं उसे अमुक प्रकार के अमुक प्रश्न पूछूंगा वह जो उनके उत्तर नहीं देंगे तो इन्हीं प्रश्नों से तुझे बोलता बंद करूंगा। तदनन्तर शुक हजार परिव्राजकों (शिष्यों) व सुदर्शन के साथ नीलाशोक उद्यान में थावच्चापुत्र अनगार के पास आकर इस प्रकार बोला:—

हे पूज्य! आपको यात्रा है? आपको यापनीय है? आप को अव्याबाध है? आपको प्राशुक विहार है? तब थावच्चापुत्र शुक परिव्राजक के ये प्रश्न सुनकर उसे इस भांति उत्तर देने लगे:—हे शुक! मुझे यात्रा भी है, यापनीय भी है, अव्याबाध भी है और प्राशुक विहार भी है, तब शुक परिव्राजक थावच्चापुत्र को इस प्रकार पूछने लगा:—

हे भगवन्! यात्रा क्या है? (थावच्चापुत्र बोले) हे शुक! जो मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम आदि योग की यतना

एषणीय दो प्रकार को है:—लब्ध और अलब्ध, इसमें अलब्ध अभक्ष्य है। मात्र जो लब्ध हो, सो श्रमण निर्ग्रंथों को भक्ष्य है। इस कारण से हे शुक! ऐसा कहता हूँ कि, सरिसवय भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

इसी भांति कुलत्था के लिये भी जान लेना चाहिये, इसके दो प्रकार हैं, यथा—कुलत्था याने कुलीन स्त्री और कुलत्था याने कुलथी धान्य।

कुलत्था स्त्री तीन प्रकार की है:—कुलकन्या, कुलमाता, और कुलवधू। कुलथी धान्य के लिये सरसवानुसार भेद करके जान लेना चाहिये। इस भांति माष के लिये भी जान लेना चाहिये, माष तीन भांति के हैं—अर्थमाष, कालमास और धान्य माष।

कालमास बारह हैं:—श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त, वे अभक्ष्य हैं। अर्थ माष दो प्रकार के हैं:—हिरण्य माष व सुवर्ण माष, वे भी अभक्ष्य हैं। धान्य माष, (उड़द) के विषय में सरसवानुसार भेद करके समझ लेना चाहिये।

आप एक हैं? दो हैं? अक्षय हैं? अव्यय हैं? अवस्थित हैं? अनेक भाव वाले हैं?। हे शुक! मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ, और यावत् व अनेक भाव वाला भी हूँ।

हे शुक! द्रव्यार्थनय से मैं एक हूँ, ज्ञान दर्शन रूप से मैं दो हूँ। प्रदेशार्थनय से अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ, उपयोग से अनेक भाव वाला हूँ। यह सुन शुक बोध प्राप्त कर गुरु को विनय करने लगा कि—मैं आप से हजार परिव्राजकों के साथ दीक्षा लेना चाहता हूँ। सूरि ने कहा— प्रमाद मत करो। तब उसने संतुष्ट हो कुलिंगी का लिंग त्याग कर सपरिवार दीक्षा ग्रहण की।

उसने क्रमशः सर्व आगम सीखे, थावच्चाकुमार ने उसे अपने पद पर स्थापित किया और आप हजार शिष्यों सहित सिद्धगिरि पर आकर मोक्ष को पधारे। अब शुक आचार्य भी चिरकाल तक भव्य कमलों को सूर्य के समान विकसित करता हुआ हजार साधुओं के साथ सिद्धगिरि पर आकर मोक्ष को पहुँचा।

सुदर्शन सेठ भी आयतन सेवनरूप अमृतरस से दोष रूप विष के बल को नष्ट कर शुद्ध सम्यक्त्व धारण कर सुगति को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार आयतन की सेवा करने से सुदर्शन सेठ ने सुन्दर फल पाया। अतः भव समुद्र में डूबते बचे हुए हे सज्जनों! तुम उसमें आदरवन्त होओ।

इस प्रकार सुदर्शन की कथा है:—

शीलवन्त का प्रथम भेद कहा, अब उसका परगृह प्रवेश वर्जन रूप दूसरा भेद कहने के लिये गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं।

परगिहगमणं पि कलंक-पंकमूलं सुसीलाणं ॥३९॥

मूल का अर्थ—सुशील पुरुषों को भी परगृह जाना कलंक रूप पंक का मूल हो जाता है।

टीका का अर्थ—परगृह गमन याने दूसरे के घर जाना अपि शब्द स्योक्त सुशील शब्द के साथ जुड़ेगा—कलंक याने निर्दोष पुरुष को मैला करे [illegible] उसका मूल याने कारण है। ([illegible] कहते हैं) [illegible] [illegible] के समान।

यहां यह समाचारी है— श्रावक को यद्यपि अन्तःपुर में तथा किसी के भी घर में जाने में कुछ भी बाधा नहीं होती, तथापि उसने अकेले परगृह में नहीं जाना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर भी वहां बड़े मनुष्य के साथ प्रवेश करना चाहिये। गाथा के प्रथम दल में जैसे गुरु सत्तगण (गुरु अक्षर सहित सात गण) होते हैं, वैसे गुरु सत्तगण याने महा सत्त्व (साहस) वाले मंडलों वाला विनयपुर नामक नगर था। वहां वसु नामक सेठ था और उसकी भद्रा नामक स्त्री थी।

उनका धनमित्र नामक पुत्र था, उसकी बाल्यावस्था ही में उसके माता-पिता मर गये, वैसे ही पुण्य रूप मेघ नष्ट होने से नदी के प्रवाह के समान धन भी नष्ट हो गया। उस बालक को उसके परिजनों ने भी क्रमशः छोड़ दिया, जिससे वह दुःख से बड़ा हुआ तथा निर्धन होने से कोई भी उसे कन्या नहीं विवाहता था। तब वह लज्जित होकर द्रव्योपार्जन की तृष्णा से नगर से रवाना हुआ। मार्ग में उसने किसी स्थान पर किंशुक (केसुड़ा) के वृक्ष पर प्रारोह- उत्पन्न हुई वनस्पति विशेष देखा।

तब उसे खान की बात जो कि उसने पहिले सुनी थी, सो याद आई, वह इस प्रकार है कि- जो अक्षीर झाड़ में प्ररोह बैठा हुआ दीखे तो उसके नीचे धन गड़ा हुआ जानो। बिल व पलाश के वृक्ष पर स्थिर और बड़ा प्ररोह हो तो वहां बहुत धन होता है, छोटा प्ररोह हो तो थोड़ा धन होता है। वैसे ही रात्रि को वहां बोले तो बहुत धन होता है और दिन में बोलता हो तो थोड़ा धन होता है। प्ररोह को जख्म करते जो उसमें से लाल रस निकले तो वहां रत्न होते हैं, जो सफेद रस निकले तो चांदी होती है, जो पीला रस निकले तो सुवर्ण होता है और जो

कुछ भी न निकले तो कुछ भी नहीं होता है। वहां जितना ऊंचा प्ररोह बैठा हो उतना ही नीचे खोदने पर धन मिलता है।

उस वृक्ष की पींड ऊपर से सकडी व नीचे से चौडी हो, तो वहां निश्चय धन जानो और इससे विपरीत होवे तो वहां धन नहीं होता है। यह निश्चय कर धनमित्र निम्नांकित मंत्र बोलकर उस जगह को खोदने लगा।

" नमो धनदाय – नमो धरणेन्द्राय – नमो धनपालाय – इति मंत्र पठन् खनतिस्म तं प्रदेशं "

"धनद को नमस्कार, धरणेन्द्र को नमस्कार, धनपाल को नमस्कार"

तथापि अपुण्यता वश उसने वहां केवल अग्नि के अंगार के दो ताम्र कलश देखे, तब वह विषाद पाकर सोचने लगा कि-प्ररोह का पीला रस देखने से मैं निश्चय धारता था कि-सुवर्ण निकलेगा। किन्तु हाय-हाय! मैं अपुण्यवान होने से यहां केवल अंगारे ही देखता हूँ। तथापि उसने विचार किया कि- द्रव्यार्थी मनुष्य ने कुछ भी होने पर भी निराश नहीं होना चाहिये। क्योंकि सब जगह कहावत है कि- हिम्मत रखना ही लक्ष्मी का मूल है।

यह सोचकर आगे भी उसने बहुत सी भूमि खोदी, किन्तु अपुण्य के योग से उसे कौडी भी नहीं मिली। उसने धातुवाद सीखा, किन्तु उसे क्लेश के सिवाय अन्य फल नहीं मिला। तब वह वणिक बनकर वहाण पर माल लेकर चढ़ा। वहां वहाण टूट गया। अब वह स्थल मार्ग से व्यापार करने लगा, उसमें उसने कुछ धन कमाया किन्तु उसे चोर व राजा आदि ने छीन लिया।

तब वह महान् परिश्रम के साथ राजा आदि की नौकरी (सेवा) करने लगा। वहां भी उसके अपुण्यवश उन्होंने उसे कुछ

मे, नहीं दिया। इस प्रकार दुःख सहते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करते उसने एक समय मथुरा नगर में गुणसागर नामक केवलज्ञानी गुरु को देखा।

उसे कर्म का विवर प्राप्त होने से वह अत्यादर पूर्वक गुरु के चरणों में नमन करने लगा, तब वे मुनीश्वर उसे इस प्रकार योग्य धर्म कथा कहने लगे कि- धर्म से मनुष्य धनवान होते हैं, धर्म से उत्तम कुल में जन्म मिलता है, धर्म से दीर्घ आयुष्य होता है तथा धर्म से पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है, धर्म से चारों समुद्रों के अन्त वाले भूमंडल में निर्मल कीर्ति फैलती है, वैसे ही धर्म से कामदेव से भी अधिक रूप मिलता है।

भवनपति देवताओं के मणि-रत्नों की प्रभा से चारों दिशाओं को जगमगाते हुए भवन में जो सुख भोगे जाते हैं वह सब धर्म का माहात्म्य है तथा चक्रवर्ती के चरणों में हर्ष के बल से जो उद्भ्रान्त होकर राजाओं का समूह नमन करता है वे शुद्ध धर्म-रूपी कल्पवृक्ष ही के पुष्प हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

[illegible] सुरांगनाओं के हाथ से ढुलते हुए चंचल और सुन्दर चामरों से सुन्दर वाला देवलोक का इन्द्र भी धर्म के प्रभाव ही से होता है। अधिक क्या कहूँ? धर्म ही से सकल सिद्धियाँ होती हैं तथा धर्म रहित जीवों को कभी भी फलसिद्धि नहीं होती।

यह सुनकर धनमित्र हाथ जोड़कर आचार्य को नमन कर कहने लगा कि- हे मुनीश्वर! आपने कहा सो ठीक ही है।

हे प्रभु! मुझे जन्म से ही दुःख पड़ता आ रहा है, जिसे आप अपने ज्ञान से जानते ही हो। अतः इसका क्या कारण

तब गुरु बोले कि- हे भद्र! इस भरत में विजयपुर नगर

में नहीं दिया। इस प्रकार दुःख सहते हुए पृथ्वी पर भ्रमण करते उसने एक समय गजपुर नगर में गुणसागर नामक केवलज्ञानी गुरु को देखा।

उसे कर्म का विवर प्राप्त होने से वह अत्यादर पूर्वक गुरु के चरणों में नमन करने लगा, तब वे मुनीश्वर उसे इस प्रकार योग्य धर्म कथा कहने लगे कि- धर्म से मनुष्य धनवान होते हैं, धर्म से उत्तम कुल में जन्म मिलता है, धर्म से दीर्घ आयुष्य होती है तथा धर्म से पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है, धर्म से चारों समुद्रों के अन्त वाले भूमंडल में निर्मल कीर्ति फैलती है, वैसे ही धर्म से कामदेव से भी अधिक रूप मिलता है।

भवनवासि देवताओं के मणि-रत्नों की प्रभा से चारों दिशाओं को जगमगाते हुए भवन में जो सुख भोगे जाते हैं वह सब धर्म का माहात्म्य है तथा चक्रवर्ती के चरणों में हर्ष के भार से जो उद्भ्रान्त होकर राजाओं का समूह नमन करता है वे शुद्ध धर्म-रूपी कल्पवृक्ष ही के पुष्प हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

हार युक्त सुरांगनाओं के हाथ से ढुलते हुए चंचल और सुन्दर चामरों के मुकुट वाला देवलोक का इन्द्र भी धर्म के प्रभाव ही से होता है। अधिक क्या कहें? धर्म ही से सकल सिद्धियां होती हैं तथा धर्म रहित जीवों को कभी भी फलसिद्धि नहीं होती।

यह सुनकर धनमित्र हाथ जोड़कर आचार्य को नमन करके कहने लगा कि- हे मुनीश्वर! आपने कहा सो ठीक ही है।

हे प्रभु! मुझे जन्म से ही दुःख पड़ता आ रहा है, जिसे कि आप अपने ज्ञान से जानते ही हो। अतः उसका क्या कारण है? तब गुरु बोले कि- हे भद्र! इस भरत में विजयपुर नगर में

इस प्रकार घोर अभिग्रह लेकर गुरु के चरणों में वन्दन कर नगर के भीतर किसी श्रावक के घर आकर ठहरा। वह सूर्योदय होने पर माली के साथ बाग में से फूल चुनकर गृह देवालय की प्रतिमाओं को नित्य भक्ति से पूजने लगा। दूसरे प्रहर में लोक व आगम से अविरुद्धता के साथ व्यापार करने लगा, उसमें उसे बिना परिश्रम खाने जितना मिलने लगा।

ज्यों ज्यों वह धर्म में स्थिर होने लगा त्यों त्यों उसके पास धन बढ़ने लगा, वह उस धन में से बहुत-सा भाग धर्म में खर्च करने लगा व थोड़ा भाग घर लाता। अब उसे एक महर्द्धिक श्रावक ने धर्म-मित्र जानकर अपनी पुत्री विवाह दी। वे दोनों व्यक्ति धर्म परायण हो गये।

वह किसी समय गुड़ व तेल बेचने को गोकुल में गया, उस समय उसके पास का गुड़ दूसरे के घर जाते-जाते धूप से तप कर पिघल कर गिरने लगा। यह देख उस गोकुल का मेहतर उसे लेने के लिये निधान में रखे हुए तांबे के कलश में पड़े हुए कोयले बाहिर डालने लगा, वे अंगारे धनमित्र की दृष्टि में सुवर्ण के रूप में दीखे। तब वह पूछने लगा कि—इनको बाहिर क्यों डालते हो? तब मेहतर बोला कि— हमारे बाप ने इन्हें सोना कहकर अभी तक हमको ठगा था। किन्तु अब इन्हें अंगारे देखकर इस भांति बाहिर फेंकते हैं, तब शुद्ध हृदय सेठ बोला कि— हे भद्र! यह तो वास्तव में सुवर्ण ही है।

तब मेहतर बोला कि— अरे मूढ़! क्या तू पागल है या धूर्त है अथवा तू ने धतूरा खाया है? या तुझ को सब सुवर्ण ही दृष्टि में आता है? जो यह सुवर्ण हो तो मुझे थोड़ा गुड़ व तेल देकर इसे तू ही लेजा। सेठ ने वैसा ही किया।

राजकुल में जा, न्याय कराकर भी तेरे पास से वह लूंगा। तब धनमित्र बोला कि– जो अच्छा लगे, सो करो।

तब सुमित्र ने राजा को जाकर कहा कि– धनमित्र ने मेरी रत्नावली चुराई है। राजा विचार करने लगा कि- यह बात उसमें किसी प्रकार संभव नहीं और यह सुमित्र निश्चय पूर्वक यह बात कहता है, अतः धनमित्र को पूछना चाहिये। यह विचारकर राजा ने उसको बुला कर पूछने पर वह जैसा बना था वैसा कहने लगा। तब राजा विस्मय पाकर बोला कि– हे इभ्य! अब क्या करना चाहिये? वह बोला कि- हे देव! इसने निश्चय रत्नावली ली है। तब धनमित्र बोला कि– हे देव! मैं यह कलंक नहीं सह सकता, अतः आप कहो उस दिव्य से मैं इसका विश्वास कराऊँ।

राजा बोला कि- हे इभ्य! क्या तू यह बात स्वीकार करता है, कि– यह धनमित्र लोहे की तपी हुई फाल उठावे। तब उसके हाँ भरने पर राजा ने उसके लिये दिन मुकर्रर किया। पश्चात् वे दोनों अपने-अपने घर आये, अब धनमित्र धर्म में विशेष तत्पर होकर शुद्ध मन से रहने लगा। क्रमशः वह दिन आ पहुँचने पर उसने स्नान करके जिनेश्वर की अष्ट प्रकारी पूजा करी, साथ ही सम्यक्दृष्टि देवों का कायोत्सर्ग किया।

पश्चात् फाल तपाने तथा राजा व नगरलोकों के सन्मुख आ बैठने पर धनमित्र बहुत से नागरिकों के साथ दिव्य स्थान में आ पहुँचा। उक्त इभ्य भी वहां आ पहुँचा। अब धनमित्र ज्यों-ही फाल लेने को उद्यत हुआ, त्योंही उक्त इभ्य की रत्नावली कटी पर से नीचे पड़ी।

तब राजा ने कहा कि- हे इभ्य! यह क्या है? तब वह उदास होकर कुछ भी उत्तर नहीं दे सका। राजा ने धन-

इभ्य हुई है तथा सोमदत्त मरकर यह धनमित्र हुआ है। उस व्यंतरदेव ने अपना व्यतिकर स्मरण करके क्रुद्ध हो इभ्य के तीन पुत्रों को क्रमशः मार डाले हैं।

तब राजा ने इभ्य के मामले देखने पर यह बोला कि-यह बात सत्य है, किन्तु वे क्यों मर गये, उसका कारण तो अभी ही जाना है। पुनः गुरु बोले कि-यह रत्नावली भी उसी व्यन्तर ने हरी थी, व धनमित्र ने पूर्व में दोष दिया था इससे अभी उसे दोष लगा है। किन्तु धनमित्र के धर्म में स्थित स्थिरभाव से प्रसन्न हुए सम्यक्दृष्टि देवों ने उस व्यन्तर को दबा कर यह रत्नावली उससे पटकाई है।

तब राजा बोला कि-अब यह व्यन्तर सुमित्र का और क्या करेगा? तब ज्ञानी बोले कि-इस रत्नावली के साथ यह सुमित्र का सम्पूर्ण धन हरण करेगा, पश्चात् इभ्य आर्त्त ध्यान से मरकर बहुत से भवों में भटकेगा और व्यन्तर का जीव भी नाना प्रकार से वैर लेगा।

यह सुन राजा ने संवेग पाकर, रत्नावली सुमित्र को सौंप, पुत्र को राज्य दे चारित्र ग्रहण किया। धनमित्र भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब सौंप केवली से दीक्षा लेकर क्रम से मोक्ष को गया।

इस प्रकार सदाचारीजनों को हर्ष करने वाला धनमित्र का चरित्र जानकर सन्मार्गी भव्य जनों! यथा तथा रीति से परगृह गमन का वर्जन करो।

इस प्रकार धनमित्र का चरित्र है।

इस प्रकार शीलवान् का परगृहगमनवर्जन रूप दूसरा भेद कहा। अब अनुद्भट वेष रूप तीसरा भेद प्रकट करने के हेतु आधी गाथा कहते हैं—

भी योग्य है, किन्तु वह किसी २ कुल वा किसी २ देश के लिये उचित हो सकता है परन्तु श्रावकों का तो भिन्न २ देशों में रहना संभव है अतः देश व कुल के अविरुद्ध वेष पहिरना, उसका अनुद्भट ऐसी व्याख्या की जाय तो वह सर्व व्यापक होने से यहां संगत माना जाता है।

वंधुमती का वृत्तांत इस प्रकार है—

यहां ताम्रलिप्ति नामक नगरी थी, जो कि दुश्मनों से सर्व प्रकार से अजीत थी। वहां अति धनाढ्य रतिसार नामक सेठ था। उसकी शरदऋतु के चन्द्रमा समान उज्वल शीलवाली वंधुला नामक स्त्री थी, उसके रूपादि गुण से सुशोभित वंधुमती नामक पुत्री थी।

वह (पुत्री) हाथ में सोने की चूडियां पहिरती, शरीर का शृंगार करती और स्वभाव से ही सदैव उद्भट वेष रखती थी।

एक दिन उसके पिता ने उसको प्रेमपूर्वक वचनों से समझाया कि–हे पुत्री! ऐसा उद्भट वेष अच्छे मनुष्यों को उचित नहीं है। क्योंकि कहा है कि–कुल और देश से विरुद्ध वेष राजा को भी शोभा नहीं देता, तो वह वणिकों को किस प्रकार शोभे? जिसमें भी उनकी स्त्रियों को तो कभी नहीं शोभता।

अतिरोष, अतितोष, अतिहास्य, दुर्जनों के साथ सहवास और उद्भटवेष ये पांच बड़ों को लघु बना देते हैं।

इत्यादि युक्तियुक्त वचन कहने पर भी उसने एक न माना, किन्तु पिता की कृपा से मौज करती हुई सदैव वैसी ही रहने लगी। भरूचवासी विमल सेठ के पुत्र वंधुदत्त ने ताम्रलिप्ति में आकर बड़ी धूमधाम से उसका पाणिग्रहण किया।

वह वंधुदत्त वंधुमती को पिता के घर छोड़, बन्धुपरिजन सहित नौकारूढ़ होकर समुद्र में रवाना हुआ । वह कुछ दूर गया होगा कि अशुभ कर्म के उदय से समुद्र में वायु प्रतिकूल होकर तूफान उठा ।

जिससे जैसे विनयहीन में शास्त्र नष्ट होता है, अथवा शील-हीन पुरुष को दिया हुआ दान नष्ट होता है, उसी भांति वह धन धान्य परिपूर्ण वहाण भी नष्ट हो गया । इतने में वंधुदत्त को एक पटिया मिल जाने से वह किसी प्रकार समुद्र के किनारे आया व इधर उधर देखने लगा तो उसे वह श्वसुर का नगर जान पड़ा ।

तब उसने किसी मनुष्य के द्वारा श्वसुर को संदेशा भेजा; जिसे सुन वह "हाय रे यह क्या हुआ ?" इस प्रकार बोलता हुआ उठ खड़ा हुआ । उसके साथ अति उद्भट वेष व रत्नजड़ित आभूषणों से विभूषित वंधुमती भी चली, वे ज्योंही समीप पहुँचे कि-इतने में उत्तम रत्न और सुवर्ण से जड़ी हुई चूड़ियों से सुशोभित वंधुमती के दोनों हाथ किसी जुआरी चोर ने काट लिये ।

पश्चात् वह चोर पकड़े जाने के भय से भागकर शीघ्र मार्ग की थकावट से सोये हुए वंधुदत्त के समीप आ पहुँचा ।

उस धूर्त्त चोर ने सोचा कि-यह अवसर है, यह निश्चित कर उक्त काटे हुए दोनों हाथ उसके पास रखकर आप भाग गया । इतने में पीछे से आते हुए कोतवाल की गड़बड़ सुनकर वह जाग उठा। तब उन्होंने उसे चोर ठहरा कर, पकड़ करके शीघ्र ही शूली पर चढ़ा दिया ।

अब रतिसार सेठ अपनी पुत्री की यह दशा देखकर बहुत दुःखी हो ज्योंही जामाता के समीप आया तो वहां उसने

उसको शूली से छिदा हुआ देखा। तब उसने बहुत विलाप कर, आंसुओं से नेत्र भर, दुःखित होते हुए उसका मृतकार्य किया।

इतने में वहां सुयश नामक चतुर्ज्ञानी मुनीश्वर का आगमन हुआ, उनको नमन करने के हेतु सेठ वहां आया, तब वे उसे इस भांति धर्म कहने लगे कि-हे भव्यो! तुम उद्भट वेष का वर्जन करो, परुषवाणी को त्याग दो और भव स्वरूप को विचारो, जिससे कि दुःख न पाओ।

यह सुन वैराग्य को प्राप्त हो गुरु को नमन करके पूछने लगा कि-हे भगवन्! मेरे जामाता व पुत्री ने पूर्व में कौनसा दुष्कृत किया है? गुरु बोले कि-मनोहर शालिग्राम में एक स्त्री थी, वह अटवी (वन) के समान [1] बहुमृत बालशुका थी, याने उसके बहुत से पुत्र मर गये थे तथा वह दरिद्र व विधवा थी।

वह स्त्री अपने उदर पोषण के हेतु नित्य श्रीमंतों के घर काम करती थी व उसका पुत्र बछड़े चराता था।

वह एक समय पुत्र के लिये सीके में भोजन रखकर किसी के घर काम करने गई, वहां उक्त घर वाले का जामाता आ गया जिससे उसने पहिले तो उसके तर्पण स्नान आदि की खटपट में रोकी और पश्चात् उससे खांडना, पीसना, रांधना, दलना आदि कराया।

जिससे उसे वहां बहुत देर लगी तो भी उस गृहस्थ ने व्याकुलतावश उसे नहीं जिमाई, अतः वह भूखी प्यासी घर आई। उसे देखकर भूखे लड़के ने कठोर वचन से कहा कि-क्या तू वहां शूली पर चढ़ गई थी, कि शीघ्र लौटकर नहीं आई?

---

[1] अटवी बहुमृत बालशुका याने जिसमें बहुत से पक्षी मर गये हों ऐसा वन।

वह भी क्रोध से भरी हुई होने से बोली कि—क्या तेरे हाथ कट गये थे, कि जिससे सींके में से भोजन लेकर खाया नहीं।

इस प्रकार कठोर वचन से उन दोनों ने निकाचित कर्म संचित किया, और अत्यन्त उग्र जड़ स्वभाव के कारण उसकी उन्होंने आलोचना व निंदा भी नहीं की। वे दान गुणयुक्त थे और संयम रहित थे जिससे मध्यम गुण वाले थे उनकी कुछ शुभ भावना के व्यवहार से आयुष्य पूर्ण हुई। जिससे वह लड़का तेरा बन्धुदत्त जामाता हुआ और वह दरिद्र स्त्री तेरी बंधुमती पुत्री हुई।

भवितव्यता वश तथा कर्म प्रकृति की विचित्रता के कारण माता स्त्री हुई, और पुत्र पति हुआ। उस कर्म के विपाक से बंधुमती के हाथ कटे और बंधुदत्त ने शूली पर चढने का दुःख पाया।

यह सुन रतिसार सेठ महा संवेग को प्राप्त हो गुरु से दीक्षा लेकर सुखी हुआ। इस प्रकार उद्‌भट वेष धारण करने वाली बंधुमती को प्राप्त हुआ विपाक सुनकर, हे निर्मल शीलवान भव्य जनों! तुम देशादिक अविरुद्ध वेष धारण करो।

इस प्रकार बंधुमती का वृत्तान्त है।

शीलवन्त जन का उद्‌भट वेष वर्जन यह तीसरा भेद कहा। अब सविकार वचन वर्जन रूप चौथा भेद कहने के हेतु गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं।

सवियारजंपियाइं नूणमुईरंति रागग्गिं।

मूल का अर्थ—सविकार कहे हुए वाक्य निश्चयतः रागरूप अग्नि बढ़ाते हैं।

टीका का अर्थ—सविकार जल्पित याने शृंगारयुक्त वाक्य

निश्चयत: रागाग्नि को उदीरते हैं अर्थात् प्रज्वलित करते हैं, अत: उनको न बोले। क्योंकि कहा है कि—जिसके सुनने से हृदय में कामाग्नि जल उठे, वैसी कथा साधु अथवा श्रावक ने नहीं कहना चाहिये।

"रागाग्नि को प्रदीप्त करे" यह उपलक्षण रूप है, जिससे किसी २ को द्वेषाग्नि भी प्रदीप्त करते हैं, अतएव मित्रसेन के समान अनर्थदायक सविकार वचन नहीं बोलना चाहिये।

मित्रसेन की कथा यह है—

दुश्मनों से जहां न लड़ा जा सके, ऐसी अयोध्या नगरी में धर्म कार्य में तत्पर जयचंद्र नामक राजा था। उसकी मनोहर दिखाव वाली चारुदर्शना नामक रानी थी, उनका आंख को चंद्र समान और संपूर्ण पुण्यशाली चन्द्र नामक पुत्र था।

उस चन्द्रकुमार का श्येन पुरोहित का पुत्र मित्रसेन नामक मित्र था, वह खूब शृंगार सजाता व केलि कुतूहल (हंसी दिल्लगी) का शौकीन था। एक समय उस नगर के उद्यान में दुर्ध्यान रूप इंधन जलाने में अग्नि समान व भूत भविष्य के ज्ञाता युगंधर नामक आचार्य पधारे।

उनको नमन करने के हेतु अत्यन्त आनंद से रोमांचित हुआ राजा, मित्र व पुत्र के साथ वहां गया। वह पवित्र बुद्धि राजा उक्त मुनीश्वर का अनुपम रूप देखकर विस्मय से विकसित नेत्र हो, उनको इस प्रकार पूछने लगा—

हे पूज्य! आपने ऐसा राज्य वैभव भोगने के योग्य स्वरूप होते हुए किस वैराग्य से ऐसा दुष्कर व्रत धारण किया है? गुरु बोले कि हे राजन्! मैंने एक नित्य भरा हुआ व सदैव युक्त होकर चलता हुआ भव नाम का अरघट्ट देखा।

भ्रमण से मेरे चित्त को भय लगने से उक्त भय को नष्ट करने के लिये हे नरेश्वर ! मैंने यह दीक्षा ली है।

यह सुन राजा ने भयंकर भव से अतिशय भयभीत होकर अपने पुत्र चन्द्र को राज्य सौंपकर उपशम का साम्राज्य (प्रव्रज्या) ग्रहण किया। चंद्र राजा ने भी उक्त राज्यलक्ष्मी से सुशोभित होकर सम्यक्त्व पूर्वक गृहीधर्म अंगीकार किया। पश्चात् वह गुरु चरण में नमन करके अपने स्थान को आया और मुनीश्वर भी परिवार सहित अन्य स्थल में विचरने लगे।

एक समय मित्रसेन ने राजा को एकान्त में कहा कि-हे मित्र ! तुझे मैं कुछ अपूर्व विज्ञान बताता हूँ। उसने उत्तर दिया, अच्छा, तो जल्दी बता तब व शृगालों का शब्द इस प्रकार निकालने लगा कि-जिसे सुन शृगाल चिल्लाने लगा।

व उसने मुर्गे का स्वर निकाला कि जिससे मुर्गे बोल उठे और मध्य रात्रि होते हुए भी प्रातःकाल समझकर मनुष्य जाग उठे। व इस प्रकार शृंगार युक्त वाक्य बोला कि दृढ़ शीलवान व्यक्ति को भी काम जाग उठे।

तब राजा बोला कि-हे मित्र ! इस प्रकार तू अपने व्रत को अतिचार से मलीन मत कर, क्योंकि शीलवान पुरुषों को विकारी वचन बोलना उचित नहीं। ऐसा कहने पर भी जब कुतूहलवश वह शृंगार युक्त वाणी बोलते बन्द न हुआ, तब राजा ने उसकी उपेक्षा की।

उसने एक दिन एक स्त्री के सन्मुख, जिसका कि पति विदेश गया था, ऐसे विकारी वाक्य कहे कि जिससे वह तत्काल काम से विव्हल हो गई। उसे ऐसी विकारयुक्त देखकर उसका देवर

पांसों जूआ आदि क्रीड़ा भी नहीं खेलना चाहिये।

कहा भी है कि—

चार रंग वाले पासे या पटली का खेल, वर्तक लावक के युद्ध वाले तीतर आदि पक्षियों की लड़ाई के खेल तथा पहेलियों द्वारा प्रश्नोत्तर और यमक पूर्ति आदि न करना चाहिये।

विकारयुक्त भाषण तो दूर रहे किन्तु खेल भी नहीं करना चाहिये। यह अपि शब्द का अर्थ है। " तु " अलंकारार्थ है— क्योंकि-यह मोह का चिह्न है, क्योंकि यह अनर्थदंड रूप है और निरर्थक आरम्भ प्रवृत्ति करने से यहाँ भी अनर्थ होता है, जिनदास के समान। उसकी कथा इस प्रकार है—

श्रेणिक राजा रूप राजहंस से सुशोभित राजगृह नगर रूप कमल में सुनिर्मित नामक एक परिमल के समान पवित्र द्रव्य था। उसको ऋषभदत्त नामक एक जगद्विख्यात पुत्र था। दूसरा जिनदास नामक जुगारी पुत्र था, यह नित्य द्रव्य-नाशक जूआ खेलता था, तब उसके बड़े भाई ने उसे प्रीतिपूर्वक यह कहा कि— हे भाई! शरीर और स्वजनादिक के कारण जो करना पड़ता है सो अर्थदंड है और उससे अन्य (प्रतिकूल) सो अनर्थदंड है। यह बहुत बंध का कारण कहा हुआ है।

क्योंकि कहा है कि—

अर्थ से उतना पाप नहीं बंधता, जितना कि अनर्थ से बंधता है—क्योंकि अर्थ से थोड़ा करना होता है और अनर्थ से बहुत हो जाता है क्योंकि अर्थ में तो काल आदि नियामक रहता है परन्तु अनर्थ में कुछ भी नियामक नहीं।

उसमें भी जूआ तो अति व्यसन रूप कंद की वृद्धि करने के लिये नवीन मेघ के समान है और वह अपने कुल को कलंकित करने का कारण है अतः हे भाई ! तू उसे त्याग दे।

अन्यत्र भी कहा है कि—

कुल को कलंक लगाने वाला, सत्य से विरुद्ध, महान् लज्जा का बन्धु, धर्म में विघ्न डालने वाला, अर्थ का बिगाड़ने वाला, दानभोग रहित, पुत्र, स्त्री, तथा माता पिता के साथ भी धोखा दिलाने वाला (ऐसा जूआ है)

उसमें देवगुरु का भय नहीं रहता तथा कार्य – अकार्य का विचार नहीं रहता और जो शरीर को शोषण करने वाला व दुर्गति का मार्ग है, ऐसा जूआ कौन खेले ? इस प्रकार समझाने पर भी उसने जूआ खेलना नहीं छोड़ा, तब उसने स्वजन सम्बन्धियों के समक्ष कहकर उसे घर आने को रुकवाया।

अन्य दिन किसी जुआरी के साथ खेलते लड़ाई होने से उसने निष्ठुरता से जिनदास को छुरा मारा, जिससे वह घाव से विह्वल होकर रोता हुआ रंक की भांति भूमि पर गिर पड़ा, तब स्वजनों ने उसके भाई को कहा कि– वह दया करने के योग्य है।

तब वह भी करुणा से प्रेरित हो, कोमल बनकर उसे कहने लगा कि– हे भाई ! तू स्वस्थ हो – मैं तेरा प्रतिकार करूंगा। तब जिनदास विनय पूर्वक बोला कि- हे आर्य ! मेरे अनार्य आचरण को तू क्षमा कर, मैं परलोक में जाने की तैयारी में हूँ, अतः भाता दे। तब सेठ बोला कि– हे भाई ! तू सब विषयों से ममता रहित हो, सर्व जीवों से क्षमा मांग और चतुःशरण ले। साथ ही बाल-क्रीड़ा की निन्दा कर, चित्त में पञ्च परमेष्ठि मंत्र का स्मरण
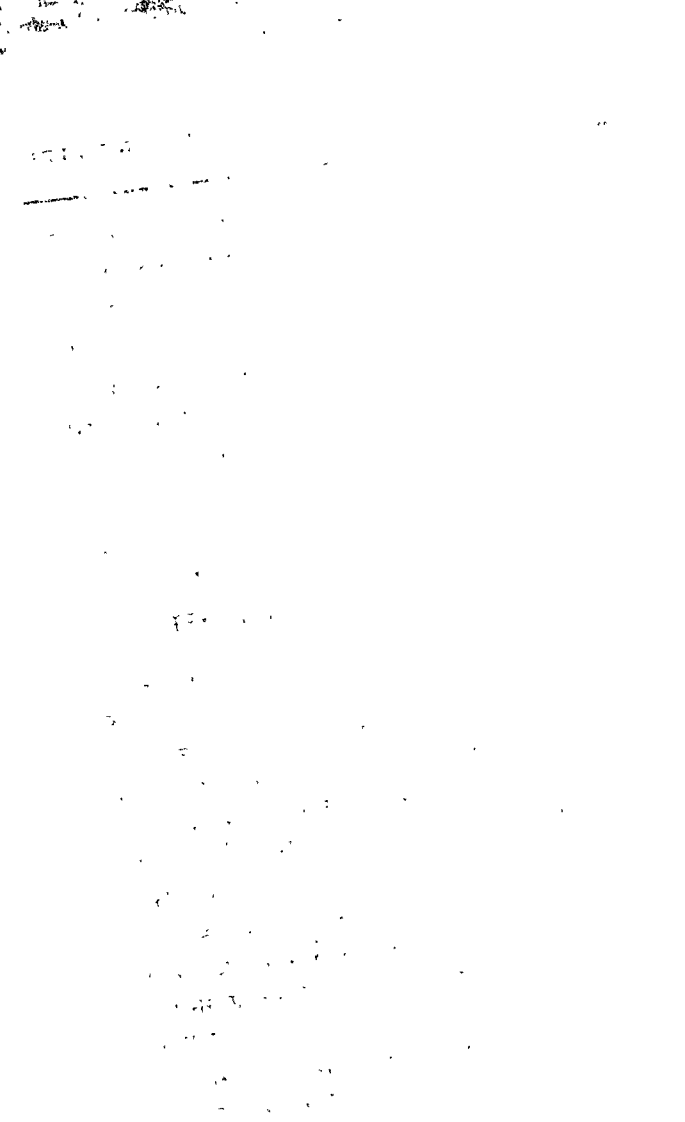
और विवेकी श्रावक ऐसी पत्थर के समान अग्नि के समान वाणी बोलते हैं। वैसे ही किसी को भी अप्रिय बोलने पर वह पीछा दुगुना अप्रिय बोलता है, अतः अप्रिय नहीं सुनना चाहने वाले ने किसी को भी अप्रिय नहीं कहना चाहिये।

सर्वत्र कर्कश बोलने वाले का परिवार उसकी ओर विरक्त हो जाता है और उससे उसकी सत्ता निर्बल पड़ जाती है तथा अपने परिवार को शिक्षा न देने से उसका नायक म्लान हो जाता है, अतः नित्य प्रति कोमल भाषा से शिक्षा देकर कुटुम्ब परिवार को शिक्षित करना चाहिये।

माधुर्यता लाना स्वाधीन है, वैसे ही मधुर शब्दों वाले वाक्य भी स्वाधीन ही हैं, तो फिर साहसी पुरुष किसलिये परुष वचन बोलें?

इसी कारण से श्री वर्द्धमानस्वामी ने महाशतक श्रावक को सत्य किन्तु परुष वचन बोलने पर प्रायश्चित ग्रहण कराया।

मतान्तर से याने कि अन्य आचार्यों के मत से अदुराराध्यता नामक छठा शील है वह भी अपरुष भाषण में आ जाता है। (क्योंकि सुख से जो सेवन किया जा सके वह अदुराराध्य कहलाता है और वह जब मिष्टभाषी हो तभी हो सकता है)

महाशतक का वृत्तान्त यह है—

राजगृह नगर रूप सरोवर का विभूषण महाशतक नामक गृहपति था। वह कमल जैसे श्रीनिलय भ्रमर हित (भ्रमर को हितकारी) नालस्य पद (नाल का स्थान) होता है वैसे ही श्रीनिलय (लक्ष्मीवान्) भ्रम रहित व आलस्यहीन था। उसके पास चौवीस कोटि धन था। जिसमें आठ कोटि निधान में, आठ कोटि व्याज

में और आठ कोटि व्यापार में काम आता था और उसके पास दस-दस सहस्र गायों वाले आठ गोकुल थे।

उसके रेवती आदि तेरह स्त्रियां थीं, उसमें रेवती को पिता की ओर से आठ कोटि धन मिला था व अस्सीहजार गायें मिली थीं, शेष अन्य स्त्रियों को एक २ कोटि धन और दस २ हजार गायों का एक २ गोकुल पितृगृह से मिला था।

वहां गुणशील चैत्य में महावीरजिन का समवसरण हुआ, उनको वन्दन करने के लिये नगरवासियों के साथ महाशतक गया। वह जिनेश्वर को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया। तब भगवान अमृतस्रोत के समान सुन्दर धर्म कहने लगे कि–

इस संसार में दुर्लभ गृहिधर्म पाकर श्रावक ने सदैव उसकी विशुद्धि उज्वलंत करने के लिये इस भांति दिनचर्या पालना चाहिये। जैसे कि सोकर उठते ही श्रावक ने प्रथम भली भांति पंच नवकार मंत्र का स्मरण करना, पश्चात् अपनी जाति, कुल, देव, गुरु और धर्म की विचारणा करना।

पश्चात् छः प्रकार का आवश्यक करके दिन ऊगने पर स्नानादिक करके श्वेत वस्त्र पहिर, मुखकोश बांधकर गृह में स्थित प्रतिमा का पूजन करना। पश्चात् प्रत्याख्यान करके जो ऋद्धिवन्त श्रावक हो तो उसने धूमधाम से जिनमंदिर में जाकर वहां शास्त्रोक्त विधि से प्रवेश करना।

वहां जिनपूजा तथा जिनवन्दन करने के अनंतर सुगुरु के समीप जाना वहां उनका विनय संपादन करके प्रत्याख्यान प्रकट करना (अर्थात् पुनः लेना) पश्चात् भली भांति वहां धर्म श्रवण करके, घर आकर शुद्ध वृत्ति याने न्यायपूर्वक व्यापार आदि करना, पुनः मध्याह्न काल में जिनेश्वर की पूजा करना।

पाऊंगा ? मैं कुशील का संगत्याग करके गुरु के पद्मपंकज
रज को स्पर्श करता हुआ योग का अभ्यास करके संसार का
छेद कब करूंगा ? मैं वन में पद्मासन से बैठा रहूँगा, मेरी
द में हिरन के बच्चे आ बैठेंगे और समूह के सरदार बड़े
ण मुझे कब आकर सूंघेंगे ?

मैं मित्र व शत्रु में, मणि व पत्थर में, सुवर्ण व मिट्टी में वैसे
मोक्ष और भव में भी समान मति रख कर कब फिरूंगा ?
स प्रकार नित्य-क्रिया करता हुआ निरभिमानी मनुष्य गृहवास
रहते भी सिद्धि सुख को समीप लाता है।

यह सुनकर महाशतक आनन्द के समान गृहि-धर्म अंगीकृत
कर, प्रसन्न होता हुआ अपने घर आया और स्वामी भी अन्य
स्थल में विचरने लगे। उसका सहवास होने हुए भी पापिष्ठ
रेवती को प्रतिबोध नहीं हुआ। क्योंकि वह मद्यरस व मांस में
गृद्ध थी तथा क्षुद्र व धन में अति लुब्ध थी।

उसने अति विषय गृद्धि से पागल हो कर एक समय छः
सपत्नियों को शस्त्र प्रयोग से और छः सपत्नियों को विष प्रयोग
से मार डाला। पश्चात् उनका द्विपद, चतुष्पद तथा धन माल
आदि अपने स्वाधीन कर अनेक प्राणियों की हिंसा करती हुई
सदैव क्रूर होकर रहने लगी।

जब अमारि पडह बजने पर उसे मांस न मिल सका तब
उसने अपने गोकुल में से दो बछड़े मरवाकर मंगवाये थे। अब
चवदह वर्ष के अंत में महाशतक श्रावक अपने ज्येष्ठ पुत्र को
कुटुम्ब का भार सौंप कर, विरक्त चित्त हो, पौषध शाला में
आया।

इतने में रेवती मद्यपान से मत्त हो कर वहां आकर हाव भाव और विलास आदि से महाशतक को बहुत बार उपसर्ग करती, तथापि वह महात्मा वह सब भली भांति सहन करता था। इस प्रकार उसने सम्यक् रीति से श्रावक की एकादश प्रतिमाएं पूर्ण की पश्चात् अपना अंतिम समय समीप आया जान कर उसने विधिपूर्वक अनशन किया।

शुभभाव वश उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह उत्तर दिशा के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में लवण समुद्र में हजार योजन पर्यन्त देखने लगा। उत्तर दिशा में हिमवत् पर्वत पर्यन्त और नीचे रत्नप्रभा के लोलुप नामक नरक पर्यन्त चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारक जीवों को देखने लगा।

इतने में वह पापिनी रेवती मदोन्मत्त होकर वहां आकर दुःसह (कामरूप) रागाग्नि से संतप्त हो उसे उपसर्ग करने लगी।

तब महाशतक ने विचार किया कि– यह ऐसी क्यों हो रही है? तब उसने अवधिज्ञान से उसका सकल चरित्र तथा नरकगामीपन जान लिया। जिससे जरा कुपित हो कर वह बोला कि– हे पापिनी, नीच, निर्लज्ज! अभी भी तू कितना पाप उपार्जन करेगी? क्योंकि आज से सातवीं रात्रि में तू अलसिया की व्याधि से मर कर लोलुप नरक में उत्पन्न होनेवाली है। यह सुन कर रेवती का मद उतर गया और वह विचारने लगी कि– आज मुझ पर महाशतक अति-कुपित हुआ है जिससे तथा मृत्यु के भय से कांपती हुई, दुःखित मन से वह अपने घर आई।

इतने में वहां पधारे हुए वीरप्रभु ने गौतम को कहा कि– हे वत्स! तू जाकर मेरे वचन से महाशतक को कह कि– हे भद्र!

उत्तम गुणवान् श्रावकों को परुषवचन बोलना अनुचित है, अनशन में तो विशेष कर पर-पीड़ाकारी वचन कदापि न बोलना चाहिये. अतः तू अपने दुर्भाषण का प्रायश्चित ले। तब गौतमस्वामी उक्त बात स्वीकार करके वहां आये। उनके वहां आकर प्रभु का संदेश कहने पर महाशतक ने वैराग्य पाकर गौतमस्वामी को वन्दना करके उक्त अतिचार की आलोचना की।

पश्चात् उसने प्रायश्चित स्वीकार किया, तब गौतमस्वामी वहां से प्रभु के पास आये। तत्पश्चात् महाशतक समाधिस्थ हो, वीर प्रभु के चरण कमल को स्मरण करता हुआ साठ भक्त का छेदन कर, विधी पूर्वक मर कर, सौधर्म देवलोकान्तर्गत अरुणाभ विमान में चार पल्योपम के आयुष्य से देवता हुआ। वहां से च्यवन कर महाविदेह में जन्म ले सुन्दर देह प्राप्त कर चारित्र लेकर महाशतक का जीव अवरूपभारी रहकर मुक्ति पावेगा।

इस भांति महाशतक के परुष वाक्य बोलने पर प्रभु ने गौतम गणधर के द्वारा उससे आलोचना कराई। यह स्पष्टतः समझ कर हे निर्मल शीलवान् पुरुषों! तुम उस कारण से अमृत समान मधुर और संगत (उचित) वचन बोलो।

इस प्रकार महाशतक का वृत्तान्त है।

परुष वचन से आज्ञा न देना, यह छट्टा शील कहा, उसके पूर्ण होने पर भाव-श्रावक का शीलवान् पन रूप दूसरा लक्षण समाप्त हुआ, अब गुणवान पन रूप तीसरा लक्षण कहने के संबंध में गाथा कहते हैं--

जइवि गुणा बहुरूवा तहावि पंचहि गुणेहि गुणवंतो।
इह मुणिवरेहिं भणिओ सरूवमेसिं निसामेहि ॥४२॥

मूल का अर्थ--गुण यद्यपि बहुत प्रकार के हैं तो भी यहां मुनीश्वरों ने पांच गुणों से गुणवान् कहा है, उनका स्वरूप (हे शिष्य !) तू सुन !

टीका का अर्थ—यद्यपि यह पद अभ्युपगमार्थ है, जिससे यह अर्थ होता है कि-हम स्वीकार करते हैं कि-गुण बहुरूप अर्थात् बहुत प्रकार के औदार्य, धैर्य, गांभीर्य, प्रियंवदत्व आदि हैं, तथापि यहां भाव-श्रावक के विचार में गीतार्थों ने पांच गुणों से गुणवान माना है, उनका स्वरूप अर्थात् वास्तविक तत्त्व सुन यहां सुन यह क्रियापद शिष्य को जागृत करने के लिये है जिससे यह बताया गया है कि-प्रमादी शिष्य को प्रेरणा करके सुनाना स्वरूप कहते हैं-

सज्झाए[1] करणंमि य[2] विणयंमि य[3] निच्चमेव उज्जुत्तो ।
सव्वत्थणभिनिवेसो[4] वहइ रुइं सुट्ठु जिणवयणे[5] ॥ ४३ ॥

मूल का अर्थ— स्वाध्याय में, क्रियानुष्ठान में और विनय में नित्य उद्युक्त रहे तथा सर्वत्र सर्व विषयों में कदाग्रह रहित रहे और जिनागम में रुचि रखे। शोभन अध्ययन सो स्वाध्याय अथवा स्व याने आत्मा उसके द्वारा अध्याय सो स्वाध्याय, उसमें नित्य उद्युक्त रहे, तथा करण अर्थात् अनुष्ठान में और विनय अर्थात् गुरु आदि की ओर अभ्युत्थान आदि करने में नित्य - सदा उद्युक्त याने प्रयत्नवान रहे इन वाक्यों को तीनों में जोडने से तीन गुण हुए।

तथा सर्वत्र इस भव के और परभव के प्रयोजनों में अनभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह रहित होकर समझदार होना चौथा गुण है और जिन वचन अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम में सुष्ठु

अर्थात् मजबूत रुचि—इच्छा—अर्थात् श्रद्धान धारण करे सो पांचवा गुण है।

इस प्रकार गणना से पांचों गुण बताकर अब उनका भावार्थ द्वारा विवेचन करने के हेतु प्रथम स्वाध्याय भी आधी गाथा से कहते हैं—

पढणाई सज्झायं वेरग्गनिबंधणं कुणइ विहिणा।

मूल का अर्थ–विधिपूर्वक वैराग्यकारक पठन आदि स्वाध्याय करे।

टीका का अर्थ- पठन अर्थात् अपूर्व श्रुत ग्रहण – आदि शब्द से प्रच्छन, परावर्तन, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ग्रहण करना चाहिये उसका यह अर्थ है कि- पांचों प्रकार का स्वाध्याय करे। स्वाध्याय कैसा सो कहते हैं- वैराग्य निबंधन याने वैराग्य का कारण – विधि पूर्वक अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से श्येन श्रेष्ठि के समान।

वहां पठन विधि इस प्रकार है:—

गुरु के पास सीखते समय पर्यस्तिका (पलाठी), अवष्टंभ (ओठींगण), पाद प्रसारण और विकथा व हास्य का वर्जन करना।

प्रच्छा-पूछने की विधि यह है कि–आसन वा शय्या में रहकर नहीं पूछना, किन्तु आकर उत्कुटुकासन से बैठ कर हाथ जोड़ कर पूछना चाहिये।

परावर्त्तन की विधि यह है कि– श्रावक ने ईर्यावही प्रतिक्रमण कर, सामायिक कर, ठीक-ठीक मुंह ढांक कर निर्दोषता से पद-च्छेद पूर्वक सूत्र गिनना।

अनुप्रेक्षा अर्थात् अर्थचिंतन, उसकी विधि यह है कि– जिन-आगम समझाने में कुशल गुरु के पूर्व श्रवण किये हुए वचन से एकाग्र मन रख चित्त में सूत्र श्रुत के विचारों का चिंतवन करना।

[illegible]

[illegible] सेठ की कथा यह है—

यहाँ कोशल में [illegible] (जिनमंदिर) से सुशोभित कांची नामक नगरी थी। वहां [illegible] नामक सेठ था और उसकी कुलमाला नामक स्त्री थी। उनके तीन पुत्र थे, उस सेठ के घर एक दिन मासक्षमण के पारणे चतुर्ज्ञानी साधु भिक्षा के लिये आये।

तब सेठ सत्तू का थाल लेकर शीघ्र ही उनको वहोराने के लिये उठा, यह देख मुनि बोले कि–इसमें सूक्ष्म जीव हैं, अतः मुझे नहीं कल्पता। सेठ बोला कि–इसका क्या निश्चय है ? तब मुनि ने लाल रंग से रंगे हुए रूई के फोहे उसके आसपास रखवाकर, उस उपाय से उसमें उन्होंने उस सत्तू ही के वर्ण के सूक्ष्म जंतु बता दिये।

तब सेठ तीसरे दिन का दही उन्हें देने लगा, उसमें भी मुनि ने उसी प्रकार जीव बताये। तब सेठ ने उनके सन्मुख लड्डुओं से भरा हुआ थाल रखा।

उसे देख मुनि बोले कि–ये विष मोदक हैं, सेठ बोला कि–किस प्रकार ? मुनि बोले कि–हे सेठ ! देखो ! इस पर जो मक्खी बैठती है वह मर जाती है।

तब सेठ विस्मित होकर बोला कि–इसमें विष किसने मिलाया सो कहिये। तब वे महान् साधु बोले कि कल तुम्हारी जो दासी मर गई है उसने मिलाया है।

सेठ ने पूछा कि– ऐसा उसने किसलिये किया होगा ? साधु बोले कि– तुमने तथा तुम्हारे कुटुम्ब ने मिलकर अमुक अपराध में उसे तर्जना की थी। जिससे उसने तुम्हारे लिये ये विष-युक्त लड्डु बनाये और अपने लिये विष रहित दो लड्डू बनाये।

पश्चात् उसने अति क्षुधातुर हो जल्दी में वे विषयुक्त लड्डू ही खा लिये, जिससे वह तत्क्षण मर गई।

इस थाल में वे दो विष-रहित लड्डू पड़े हैं और अन्य सब विषयुक्त हैं, इसीसे ये मुझे नहीं कल्पते। जो किसी प्रकार तुमने सकुटुम्ब ये लड्डू खा लिये होते तो तुम धर्म रहित अशरणता से मर जाते। तब श्येन सेठ धर्म पूछने लगा, तब मुनि बोले कि– भिक्षा के लिये आया हुआ धर्म नहीं कह सकता। यह कह वे अपने स्थान को चले गये।

अब मध्याह्न के समय सेठ सकुटुम्ब साधु के पास जा, नमन करके धर्म पूछने लगा और वे साधु इस भांति कहने लगे–

जैसे हाथियों में ऐरावण उत्तम है, देवताओं में इन्द्र उत्तम है, पर्वतों में मेरु उत्तम है, वैसे ही सर्व धर्मों में दान, शील, तप, भावना रूप चार प्रकार का जिन – धर्म उत्तम है। उसमें भी निकाचित कर्म रूप घास को हरने के लिये मेघ समान तप ही उत्तम है। तप में स्वाध्याय उत्तम है।

कहा है कि–कोई किसी भी योग में उपयुक्त रहता हुआ खुशी के साथ समय समय से असंख्य भव के पापों का क्षय करता है और स्वाध्याय में उपयुक्त रहा हुआ उससे भी अधिक भवों के पापों का क्षय कर सकता है। केवली भाषित छः अभ्यंतर और छः बाह्य मिलकर बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय समान कोई तप कर्म नहीं है और न होगा ही।

[illegible]

[illegible] प्रसन्न हो उसने सेठ [illegible] रीति से गृही-धर्म स्वीकार कर लिया व [illegible] का अधिकार लेकर मुनि को नमन कर अपने घर आया। पश्चात् वह गृहीत धर्म-कार्यों में [illegible] उत्तम स्वाध्याय करता रहा। इस प्रकार समय पाकर क्रमशः सारा बहुत-सा धन हो गया तथा पुत्र, पौत्रादिक सन्तान बढ़ी। अब बहुतसी बहुएं होने से वे परस्पर किसी प्रकार कलकल करने लगीं और उनके कहने से पुत्र भी स्नेह-हीन हो कलह करने लगे।

उनको कलह करते देख सेठ ने अलग कर दिया। तब उन्होंने सेठ के रहने का जो मुख्य घर था वह मांगा, तो उसने वह भी उनको दे दिया। अब उसको सेठानी कहने लगी कि– तुम द्रव्य सहित अपना घर पुत्रों को देकर अब किस प्रकार निर्वाह करोगे? तब सेठ बोला कि– जिसके मन रूप क्यारे में जिन – धर्म रूप कल्पतरु विद्यमान है, उसे घर, धन वा अन्य कुछ किस गिनती में हैं?

तब सेठानी उसे कहने लगी कि– ठीक, तो अब सिर मुंडा कर भीख मांगो और श्मशान, देवालय वा सुनसान घरों में रहो। सेठ बोला कि–हे सुतनु! धीरज रख, यह भी समय आने पर करुंगा; किन्तु अभी तो तुझे इस लोक में धर्म का कैसा प्रभाव है सो बताता हूँ। यह कह कर वह तत्काल अपने मित्र मंत्री के

पास जाकर कुटुम्ब का सब वृत्तान्त कहकर उससे एक घर मांगने लगा।

तब मंत्री बोला कि—मेरे एक घर है किन्तु वह सदोष है अर्थात् उसमें व्यंतर के घुस जाने से वह उजड़ पड़ा है, जिससे उसमें कोई भी नहीं रहता। अतः जो धर्म के प्रभाव से व्यन्तर तुझे कोई पराभव न करे तो खुशी से ले तब श्येन सेठ तुरन्त शकुन ग्रंथि बांधकर उस घर में आया।

वह निसीही बोल, अनुज्ञा ले घर के अन्दर आ ईर्यावही प्रतिक्रमण करके इस प्रकार स्वाध्याय करने लगा। हे जीव! गज-सुकुमाल, मेतार्यमुनि तथा स्कंधक सूरि के शिष्य आदि के साधुओं के चरित्र स्मरण करता हुआ, इतने ही में क्यों कोप करता है?

जो महा सत्ववान् होते हैं वे प्राण जाते भी कोप नहीं करते और तू ऐसा हीनसत्व है कि— वचन मात्र से भी क्रुद्ध होता रहता है। हे जीव! जीवों को सुख दुःख होने में दूसरा तो निमित्त मात्र है, अतः अपने पूर्व कृत्य का फल भोगते हुए तू दूसरे पर किसलिये व्यर्थ कुपित होता है?

अहो! अहो! मोह से मूढ हुए जीव वैभव व घर में मूर्छित होकर पुत्र व मित्रों को भी मार डालते हैं और चतुर्गति रूप संसार में रखड़ते हैं इस प्रकार उसने रात्रि के दो प्रहर पर्यंत वहां स्वाध्याय किया इतने में व्यंतर उसे सुन हर्षित होकर कहने लगा कि—

मैं इस संसार समुद्र में डूब रहा था, किन्तु तूने मुझे नौका के समान तारा है, मैं देवता हूँ और मैंने ही इस घर को उजड़

किया है। पश्चात् श्येन के पूछने पर वह व्यंतर बोला कि–हे भद्र! पूर्व में मैं इस घर का स्वामी था और मेरे दो पुत्र थे।

उनमें से छोटा पुत्र मुझे अधिक प्रिय था, जिससे मैंने संपूर्ण गृह का भार उसे दिया और बड़े पुत्र को थोड़ा सा माल देकर अलग घर में रखा। तब मेरे बड़े पुत्र ने दर्बार में फर्याद करके एकाएक मुझे मरवा डाला और छोटे भाई को कैद में डलवा कर यह घर उसने स्वयं अधिकार में लिया।

छोटा भाई कैदखाने में मर गया और मैं मरकर यहां व्यन्तर हुआ, जिससे मैंने अपने ज्ञान से बड़े पुत्र को यह कार्यवाही जान ली। जिससे मैंने कोप करके बड़े पुत्र को उसके परिवार सहित मार डाला और दूसरा भी यहां जो रात्रि में रहता तो मैं उसे मार डालता था।

किन्तु इस समय तेरा स्वाध्याय सुनकर मैं प्रतिबोधित हुआ हूँ, और अपने मन का वैर मैंने त्याग दिया है अतः तू मेरा गुरु है जिससे यह निधान सहित घर मैं तुझे देता हूँ। पश्चात् निधि स्थान बताकर तत्काल वह देवता अदृश्य हो गया तदन्तर सेठ ने वह बात राजा तथा मंत्री आदि को कही।

तब राजा विस्मित हुआ तथा मंत्री व स्वजन सम्बन्धी लोग प्रसन्न हुए तथा पुत्र भी शान्त हुए और सेठानी भी धर्म में तत्पर हुई। इस प्रकार अंतरंग रिपु की सेना को जीतकर श्येन सेठ ने चिरकाल गृहिधर्म का पालन कर, प्रव्रज्या ले अनुक्रम से शाश्वत पद प्राप्त किया।

इस प्रकार श्येन सेठ सदैव स्पष्ट शुद्ध भाव से स्वाध्याय में लीन रहकर सकल अर्थ प्राप्त कर सका अतएव विवेक रूप

चन्द्र को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान स्वाध्याय में निरन्तर प्रयत्न शील होओ।

इति श्येन श्रेष्ठी कथा

गुणवंत लक्षण के स्वाध्याय करना यह प्रथम भेद कहा। अब करण नामक दूसरे भेद का वर्णन करने के लिये आधी गाथा कहते हैं।

तवनियमवंदणाई-करणंमि य निच्चमुज्जमइ ॥४४॥

मूल का अर्थ—तप, नियम और वन्दन आदि करने में नित्य उद्यमवन्त रहे।

टीका का अर्थ- तप, नियम, वन्दन आदि के करण में अर्थात् आचरण में चकार से कारण (कराना) और अनुमोदन में भी नित्य प्रतिदिन प्रयत्नशील रहे।

यहां तप, अनशन आदि बारह प्रकार के हैं, क्योंकि कहा है कि—

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता. इस प्रकार छः प्रकार का बाह्य तप है। प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय. यह छः प्रकार का अभ्यंतर तप है।

नियम याने साधु की सेवा करने का, तपस्वी के पारणे में तथा लोच करने वाले मुनि को घी आदि देने के विषय में (अभिग्रह)। क्योंकि कहा है कि—

मार्ग में चलकर थके हुए, ग्लान, आगम का अध्ययन करने वाले, लोच करने वाले, वैसे ही तपस्वी साधु के उत्तरपारणे दिया हुआ दान बहुत फलवान होता है।

[illegible]
[illegible] के समान।

नन्द सेठ की कथा इस प्रकार है-

रोमगुलिका जैसे धनधान्य और आमोद युक्त लोगों से भरी हुई सुवास (सुख से बसी हुई) और आनन्दक (आनन्द पूर्ण) मथुरापुरी नामक नगरी थी। वहाँ अति धनाढ्य और शान्तस्वभाव नन्द नामक सेठ था। उसकी नन्दश्री नामक कल्याणी और कान्ति-युक्त स्वभाव वाली स्त्री थी। उनके उदार चित्त और गुरु भक्ति करने वाले चार पुत्र थे।

वहाँ अतिशय ज्ञानी, क्षमादि गुण की खानि और निरपरिग्रही शिष्य परिवार सहित संगम नामक सूरि पधारे। उनको नमन करने के लिये अनेक नगरवासियों को जाते देख नन्द भी वहाँ आकर बैठा। तब सूरि इस प्रकार धर्म कहने लगे-

पंच महाव्रत पालन रूप यतिधर्म सबसे उत्तम है, किन्तु उसे जो जीव नहीं कर सकते हैं, उन्हें गृहि-धर्म उचित है। यह सुनकर नन्द सेठ प्रसन्न हो गृहि-धर्म अंगीकृत करके अपने को कृतार्थ मानता हुआ अपने घर आया।

पश्चात् एक समय वह गुरु को पूछने लगा कि- हे स्वामिन्! इस धन से क्या पुण्य हो सकता है? तब सूरि यह वचन बोले- चतुर जन इस बाह्य, अनित्य, असार, परवश और तुच्छ धन को सात क्षेत्रों में व्यय करके उसमें से अक्षय शिवसुख प्राप्त करते हैं।

यह सुन सेठ प्रसन्न हो गुरु को नमन करके अपने घर आया, पश्चात् उसने अपने द्रव्य से विधि पूर्वक एक सुन्दर जिन-मन्दिर

बनवाया। उसमें श्री वीर प्रभु के मनोहर बिंब की भली-भांति प्रतिष्ठा कराई, साथ ही जिन-प्रवचन की रक्षा करने में तैयार रहने वाले ब्रह्मशांति यक्ष की प्रतिष्ठा कराई।

पश्चात् जिनेश्वर की पूजा करके उसने ऐसा कठिन नियम लिया कि-हे देव! जब तक आपकी पूजा न करूंगा तब तक मैं भोजन नहीं करूंगा। इस प्रकार शुद्ध मन से दुष्कर तप नियम में लीन व नित्य जिन-पूजा में उद्यत, वैसे ही मुनि-जन को वंदन करने में तत्पर रहकर उसने बहुत सा काल व्यतीत किया।

पूर्व कर्म के वश एक समय उसका वैभव चला गया, जिससे वह अपने स्वजन सम्बन्धी जनों व सेवकों को अप्रिय होगया।

पवित्र वृत्ति (आचार) होते हुए वित्त (धन) चला जाने से उसके पुत्र भी उसकी निन्दा करने लगे, स्त्री भी अवहेलना करने लगी तथा बहुएँ भी कटकट करने लगीं।

पुत्र कहने लगे कि- अरे महा मूढ़ बुड्ढे! तू ज्यों-ज्यों जिन धर्म करता है, त्यों-त्यों भयानक दारिद्य रूप वृक्ष तेरे घर में फल रहे हैं।

तब वह महात्मा बोला कि- ऐसी असमंजस (अन समझी) बात न बोलो, क्योंकि-सब कोई पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल भोगते हैं। इस प्रकार युक्तिपूर्वक उसके पुत्रों को समझाते हुए भी उन्होंने क्रोध से संतप्त होकर नीति मार्ग को तोड़ नन्द सेठ को अपने से अलग कर दिया।

तो भी वह महाभाग नन्द सेठ अकेला होकर रहते भी लेश-मात्र खिन्न न होकर घर के एक कोने में रहकर पूर्व की भांति ही धर्म में लीन रहता था। वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में विधिपूर्वक

स्वाध्याय व आवश्यक करता और दिन के प्रथम प्रहर में आग के रहस्य को विचारता। दूसरे प्रहर में समीप के ग्राम में जाक सद् व्यवहार पूर्वक मिचे मसाला वेचकर वह भोजन के योग्य ध उपार्जन करता।

पश्चात् घर आ नहा-धोकर पवित्र हो अपने जिनभवन में ज कर सुगन्धित द्रव्यों से जिनेन्द्र की पूजा करके चैत्यवंदन करता।

इसके अनन्तर सम्यक् रीति से कर्म विपाक जानता हुअ वह अपने हाथ से रसोई तैयार करता व जीमकर, विचार कर विधि पूर्वक संवरण याने दिवस चरिम का प्रत्याख्यान ले लेता पश्चात् संध्या के समय अपना वीर्य गोपन किये विना आवश्यकादि क्रिया करता. इस भांति नंद सेठ निश्चयतः प्रतिदिन दिनकृत्य करता।

अब एक समय भव्य जनों को आनन्द देने वाले अष्टाह्निका (आठ दिन तक रहने योग्य) महोत्सव आने पर वह उपवास करके जिन मंदिर को गया. इतने में वहां बैठी हुई एक मालिन ने उसको तीक्ष्ण सुगन्धि युक्त फूलों की चौलड़ी माला दी. तब वह बोला कि-इसका मूल्य क्या है?

वह बोली कि-हे आनन्दरूपी समुद्र बढ़ाने में चन्द्र समान नंद सेठ! मूल्य की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आप की कृपा ही से हमारा यह ठाठमाठ चलता है. ऐसा कहने पर भी उसने उक्त मौरुले (जाति विशेष) के फूल नहीं लिये. तब मालिन ने विनय पूर्वक उसका मूल्य आधा रुपया कहा।

तब फूल का मूल्य लेकर हर्षित हो उक्त चौलड़ी पुष्पमाला लेकर जिन मंदिर में जा भक्ति पूर्वक जिनेंद्र की अर्चा करने लगा.

पश्चात् जिनेश्वर को पूजन व नमन करके अन्य वन्दन करने वाले लोगों के स्वस्थान को चले जाने पर नंद सेठ विधिपूर्वक देव को वंदन करके इस प्रकार स्तवन करने लगा।

जिन स्तुति

हे स्वामिन् ! हे जिनवर ! आप की जय हो आप केवलज्ञान से वस्तु का परमार्थ जानते हो आप मस्तक पर धारण की हुई मणियों की किरणों से दीप्तिमान सैकड़ों इन्द्रों द्वारा नमित हो। आप के शरीर को मल रोग नहीं होते. आप का भामंडल चन्द्र समान दीप्तिमान है, आप लयप्राप्त ध्यान से शोभित हो, आप सकल सत्त्वों को हितकारी हो।

अपार भव समुद्र में लाखों भव भटकते भी दुर्लभ आपका दर्शन पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ. चक्रवर्ती–असुरराजा तथा विद्याधरों की लक्ष्मियां मिलना सुलभ है, किन्तु हे प्रभु ! आपके कहे हुए तपश्चरण तथा नियम रूप ऋद्धि मिलना दुर्लभ है।

हे देव ! आपकी पूजा दारिद्य दुःख का नाशक है, सुख उत्पन्न करने वाला है, दुःखों को नष्ट करने वाली है और जीवों को संसारसमुद्र पार उतारने में नौका समान है. हे त्रिभुवन प्रभु ! आपके चरणकमल का वंदन चंदन के समान है, उसे प्राप्त करके, भव संताप का शमन करके भव्य जन शान्ति प्राप्त करते हैं।

हे स्वामिन् ! आप अपूर्व कल्पतरु हो अथवा अपूर्व चिंतामणि हो, क्योंकि–हे प्रभु ! आप अनिश्चित स्वर्ग मोक्ष का सुख देते हो. देवेन्द्र, मुनीन्द्र और नरेन्द्रों से वंदित हे जिनेन्द्र ! मेरे मनको आप अपनी निर्मल आज्ञा का पालन करने में लोलुप करिये।

इस प्रकार उसने स्तुति की, इतने में वहां संगमसूरि पधारे,

उसने विनयपूर्वक उसके वाक्यों को मान्य किया। तब [illegible] लगा कि—हे सेठ! तेरी ऐसी अवस्था कैसे हुई।

वह बोला कि—हे भगवान्! आप भी ऐसा कहते हो? मैं तो यही मानता हूँ कि—जहां तक मेरे मन में अचिन्त्य चिंतामणि समान धर्म विद्यमान है, तब तक कुछ भी न्यूनता नहीं। तो भी मेरे मूढ़ चित्त स्वजन सम्बन्धी जिनशासन से विरुद्ध और अनन्तसंसार रूप तरु के मूल ऐसे वचन बोला करते हैं, जिससे मुझे बड़ा विषम दुःख होता है।

इतने में [illegible]शांति यक्ष प्रत्यक्ष होकर बोला कि- मैं तेरे महान् भक्ति साहस के गुण से संतुष्ट हुआ हूँ, अतः वर मांग। वह बोला कि— मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। यक्ष पुनः बोला कि तथापि कुछ तो मांग। तब वह बोला कि— तो मेरे उक्त (पुष्प-माला वाले) आधे रुपये का फल दे।

तब यक्ष अवधिज्ञान से देखकर कहने लगा कि- तुझे मैं चाहे जितने लाख द्रव्य दे दूँ तो भी आधे रुपये में उपार्जित पुण्य का मैं पार नहीं पा सकता। यह सुन सेठ विस्मित होकर बोला कि- हे यक्ष! तू प्रसन्नता से अपने स्थान को जा, मुझे जिन धर्म के प्रभाव से कभी भी कुछ कमी नहीं हुई।

यक्ष बोला कि—हे सेठ! यद्यपि तू निरीह है, तथापि तेरे पुत्र आदि को सन्मार्ग में लाने के लिये मेरा एक वचन मान तब सेठ के हां करने से वह बोला कि-मेरे इस घर के चारों कोनों में बड़े २ निधान गड़े हुए हैं, उन्हें तू ले लेना. यह कहकर यक्ष अपने स्थान को गया और सेठ भी अपने घर आया।

तब से वह धर्म में विशेष लीन रहने लगा उसे देखकर उसकी दुष्टचित्त स्त्री कहने लगी कि, हे मूर्खशिरोमणि! व्यर्थ

की धमाधम करके क्यों यों ही मरता है? तथा पुत्र कहने लगे कि-ले निर्मर्याद बुड्ढे! अभी भी तू धर्म की हठ नहीं छोड़ता, इसका क्या कारण है? हे हताश! (अभागे) क्या तू हमको जीवित ही नहीं देख सकता?

सेठ बोला कि-तुम इस प्रकार असार धन के कारण मुक्ति व स्वर्ग के दाता धर्म की निंदा क्यों करते हो? तब वे बोले कि-हमको मुक्ति और स्वर्ग नहीं चाहिये, हमको तो मात्र धन ही चाहिये, क्योंकि-उससे सर्व अनहोते गुण भी प्रकट होते हैं।

क्योंकि कहा है कि, "लक्ष्मी के होने पर अनहोते गुण भी मान्य किये जाते हैं, और लक्ष्मी के चले जाने पर ऐसा जान पड़ता है, मानो सभी गुण उसी के साथ चले गये हैं लक्ष्मी की जय हो"

तथा कहा है कि- जाति, रूप और विद्या गहरी गुफा में जावें, हमारे पास तो केवल धन जमा हो कि-जिससे सब गुण अपने आप ही मान लिये जावेंगे। तब सेठ बोला कि-जो तुम धन के अर्थी हो तो भी धर्म का ही पालन करो, क्योंकि-यह प्राणीयों को कामधेनु के समान है।

क्योंकि कहा है कि-"धर्म धनार्थी को धन देता है, कामार्थी को काम की पूर्ति करता है, सौभाग्यार्थी को सौभाग्य देता है, अधिक क्या? पुत्रार्थी को पुत्र देता है, राज्यार्थी को राज्य देता है, अधिक विकल्पों का क्या काम है? थोड़े में कहा जाय तो ऐसी वस्तु ही कौनसी है जो धर्म नहीं दे सकता? तथा वह स्वर्ग और मोक्ष भी देता ही है।"

अन्यत्र भी कहा है कि-धन चाहता हो तो धर्म कर, क्योंकि-धर्म से धन होता है और धर्म का चितवन करते जो मर जायगा, तो दोनों में से एक भी प्राप्त न होगा।

वे बोले कि– हे पिता ! जो तू धर्म पर [illegible] कहता [illegible] है, तो हम धर्म करते हैं। तब सेठ बोला कि– हां, तब तो मैं धन दूंगा।

तब वे धन मिलने की लालसा से उस सेठ के साथ जिन-मंदिर आदि में आने तथा साधुओं की सेवा करने लगे। पश्चात् वे लोभी होकर कहने लगे कि–वह धन कहां है? तब सेठ ने घर का एक कोना खुदवाकर उनको सुवर्ण का कलश बताया।

इस प्रकार अंतराय कर्म का क्षय होने से चारों कलशों के प्राप्त होने पर वे पूर्व की भांति ऋद्धि पात्र हो गये व जिनधर्म पर प्रीतिवान् हुए अब उसने स्वजन संबंधियों को गुरु से गृहीधर्म अंगीकृत करवाया और स्वतः मुक्ति सुख देने वाली दीक्षा ग्रहण की।

वह मूल व उत्तर गुण सहित रहकर स्वाध्याय व आवश्यक की क्रिया में तत्पर रहता हुआ दुःखकंद को निर्मूल करके परमपद को प्राप्त हुआ। इस प्रकार नित्य करण में उद्यत रहने वाला नंद सेठ को दोनों लोकों में प्राप्त हुआ सुख सुनकर सकल दुःख रूप वृक्ष को (काटने में) कुठार समान, नित्य करण में। हे भव्य-जनों ! तुम प्रयत्न करते रहो।

इस प्रकार नन्द सेठ की कथा है।

गुणवन्तलक्षण का करण रूप दूसरा भेद कहा, अब तीसरा विनय रूप भेद प्रकट करने के हेतु आधी गाथा कहते हैं—

अब्भुट्ठाणाइयं विणयं नियमा पउंजइ गुणीणं।

मूल का अर्थ—गुणी जनों की ओर अभ्युत्थान आदि विनय अवश्य करना चाहिये।

टीका का अर्थ —सन्मुख उठना सो अभ्युत्थान, वह आदि सो अभ्युत्थानादि कहलाता है, आदि शब्द से संमुख जाना इत्यादि समझना चाहिये क्योंकि कहा है कि—

देखते ही उठकर खड़ा होना, आते देखकर उनके सन्मुख जाना, तथा मस्तक पर अंजली बांधना हाथ जोड़ना और स्वतः अपने हाथ से आसन देना, इस भांति विनय करना चाहिये। गुरुजन के बैठने के बाद बैठना, उनको वन्दन करना, उनकी उपासना करना और जावे तब पहुँचाने जाना, इस भांति आठ प्रकार से विनय होता है।

ऐसा विनय अर्थात् प्रतिपत्ति नियम से याने निश्चय से करना चाहिये (किसकी सो कहते हैं) गुरुओं याने विशेष गौरव रखने योग्य हों उनकी पुष्पसालसुत के समान।

पुष्पसालसुत की कथा इस प्रकार है—

मगध देशान्तर्गत गुब्बर ग्राम में पुष्पसाल नामक गृहपति था और भद्रा नामक उसकी स्त्री थी। उनको स्वभाव ही से विनय करने में उद्यत पुष्पसालसुत-नामक पुत्र था उसने एक दिन धर्म-शास्त्र पाठक के मुंह से सुना कि—

विघटिततम वाले अर्थात् ज्ञानवान् उत्तम जनों का जो निरन्तर विनय करता है वह उत्तम गुण पाकर सर्वोत्तम स्थान पाता है। यह सुन कर वह रात्रि दिवस महान् भक्ति से माता पिता का यथा योग्य विनय करने लगा।

उसने एक समय अपने मातापिता को ग्राम के स्वामी का विनय करते देखा, उसे देख वह विचार करने लगा कि—ग्राम का स्वामी मातापिता से भी उत्तम जान पड़ता है, जिससे वह उसकी सेवा करने लगा।

अब एक समय वह ग्राम का स्वामी उसे साथ लेकर राजगृह नगर में अभयकुमार के पास आया, और उसका आगे विनय करने लगा। तब पुष्पसालसुत उसे पूछने लगा कि-हे स्वामिन्! यह कौन है? तब वह बोला कि-यह श्री श्रेणिक राजा का पुत्र है, और यह अपने गुरुजनों का अत्यन्त विनय रखने वाला है।

तथा यह सज्जन रूपी वन को संतुष्ट करने में मेघ समान है, उत्तम लोगों में प्रथम माना जाता है, देश के लोगों को शान्ति में रखने वाला राजमंत्री है, और उसका नाम अभयकुमार है। यह सुनकर पुष्पसालसुत उसकी (ग्राम स्वामी की) आज्ञा लेकर अभयकुमार की सेवा में लगा। और प्रतिदिवस उसका सुवर्ण के समान पवित्र विनय करने लगा।

अब प्रातःकाल के समय अभयकुमार हर्ष पूर्वक राजा के चरणों में नमन करने लगा। तब वह पूछने लगा कि-हे स्वामिन्! आप को भी पूज्य ये कौन हैं?

अभयकुमार बोला कि-हे पुष्पसालसुत! जगद्विख्यात-यशवाला, अरिदल को झुकाने वाला, प्रसेनजित राजा का पुत्र, संसार के मूल कारण मिथ्यात्वरूपी सुभट के भटवाद को भंग करने में वीर योद्धा, वीरप्रभु का चरण भक्त और मेरा पिता यह श्रेणिक नामक राजा है।

यह सुन वह प्रसन्न हो विनय पूर्वक मंत्री की आज्ञा लेकर राजहंस के समान श्रेणिक राजा के चरणकमल की सेवा करने लगा। अब वहां वीरप्रभु का आगमन हुआ, उनको वंदन करने के लिये श्रेणिक राजा चला। तब वह पूछने लगा कि-हे स्वामी! ये आपके भी पूजने योग्य और कौन योग्य पुरुष हैं।

राजा बोला कि—ये तो इंद्र, चन्द्र तथा नागेन्द्र जिनके चरणों को नमन करते हैं, ऐसे समकाल ही में सकल जीवों के सकल संशयों के हरने वाले, हर व हास्य के समान श्वेत यश परिमल से त्रैलोक्य को सुगन्धित करने वाले, भोग की अपेक्षा से रहित, अति तीव्र तपश्चरण से अर्थसिद्धि प्राप्त करने वाले, सिद्धार्थ राजा के कुल रूप विशाल नभस्तल में सूर्य समान, मान रूप हाथी को दूर भगाने में केशरीसिंह समान वीर जिनेश्वर पधारे हैं।

यह सुनकर वह हर्षित हो, श्रेणिक राजा के साथ भगवान के पास आया। प्रभु को नमन कर, हाथ में तलवार धारण कर कहने लगा कि—हे प्रभु! आपकी सेवा करूंगा, तब भगवान बोले कि—हे भद्र! हमारी सेवा मुखवस्त्रिका और धर्मध्वज (रजोहरण) हाथ में लेकर की जाती है।

तब उसने वैसा ही स्वीकृत करके प्रभु से दीक्षा ली और विनयरूप सिद्धरसायन करके कल्याण का भागी हुआ। इस प्रकार अत्यन्त लाभकारी पुष्पसालसुत का उत्तम वृत्तान्त सुनकर हे जनों! तुम शुद्ध मन से विनय करने में तत्पर होओ।

इस प्रकार पुष्पसालसुत की कथा है।

विनय रूप तीसरा भेद कहा, अब अनभिनिवेशरूप चौथा भेद वर्णन करने के लिये शेष आधी गाथा कहते हैं।

अणभिनिवेसो गीयत्थ-भासियं नन्नहा मुणइ ॥ ४१ ॥

मूल का अर्थ—अनभिनिवेशी हो, वह गीतार्थ की बात को सत्य करके मानता है।

टीका का अर्थ—अनभिनिवेश अर्थात् अभिनिवेश रहित

गीतार्थ भाषित को अर्थात् बहुश्रुत कथन को यथार्थ रीति से स्वीकृत किया है, क्योंकि–मोह के उत्कर्ष का अभाव से कदाग्रह नहीं रहता, क्योंकि कहा है कि–मोह के उत्कर्ष का अभाव होने से किसी भी विषय में स्वाग्रह नहीं रहता। उत्कर्ष दूर करने का साधन गुणवान का परतंत्र रहना है सारांश यह है कि–वैसा पुरुष तीर्थंकर गणधर वा गुरु का उपदेश यथावत् प्रतिपादन करता है श्रावस्ती के श्रावक समुदाय के समान।

उसकी वार्त्ता इस प्रकार है।

बहुशस्य (प्रशंसा के योग्य) नेस्ती के दुकान के समान बहुशस्य अन्नादि से संपन्न श्रावस्ती नामक नगरी थी वहां शंख के समान उज्वल गुणवान् शंख नामक श्रेष्ठ श्रावक था। उसकी जिनेश्वर के चरण रूप उत्पल की सेवा करने वाली उत्पला नामक स्त्री थी वहां अन्य भी बहुत से वैर विवाद रहित श्रावक निवास करते थे।

अब वहां पधारे हुए वीरजिन को नमन करके आता हुआ निस्पृह शंख अन्य श्रावकों को कहने लगा कि–आज विपुल अशन-पान तैयार कराओ उसे जीमकर हम भलीभांति पक्खी का पौषध करेंगे।

वे सब भी ऐसा ही कहकर अपने २ घर गये पश्चात् शंख ने विचार किया कि मुझे तो अशन पान खाने के लिए न जाकर अलंकार शस्त्र तथा फूल का त्याग कर ब्रह्मचर्य धारण करके पौषधशाला में पौषध लेकर अकेले रहना। (विशेष पसन्द है)

यह बात उत्पला को पूछकर शंख ने पौषध लिया इधर वे [illegible] श्रावक अशनादिक तैयार कराने लगे। वे कहने लगे कि–हे भद्रो! शंख ने कहा था कि–भोजन करके हम पाक्षिक पौषध करेंगे।

किन्तु शंख अभी तक क्यों नहीं आये ? तब पुष्कली श्रावक बोला कि— मैं जाकर उसे बुला लाऊं तब तक तुम विश्राम करो यह कहकर वह शंख के घर आया उसे आता देखकर उत्पला उठी व सात आठ कदम उसके सन्मुख आई ।

पश्चात् वन्दना करके आसन पर बैठने की निमंत्रणा की, और आगमन का प्रयोजन पूछने लगी तब वह बोला कि हे भद्रे ! शंख के सदृश निर्मल शंख कहां है ? वह बोली कि— वे तो पौषधशाला में पौषध लेकर बैठे हैं। तब उसने पौषधशाला में जाकर गमनागमन आदि ईर्यावही प्रतिक्रमण किया ।

पश्चात् हर्ष पूर्वक शंख को वन्दना करके पुष्कली बोला कि—हे भद्र ! अशन-पान तैयार हो गया है, अतः आप शीघ्र पधारिये। शंख बोला कि— मैंने तो पौषध लिया है अतः तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो। यह सुन पुष्कली अन्य श्रावकों के पास आया ।

उसने आकर शंख की बात कही, तब उन श्रावकों ने किंचित् अभिनिवेश करके भोजन किया। इधर शंख रात्रि के अंतिम प्रहर में विचारने लगा कि—मैं प्रातःकाल वीर प्रभु को वन्दना करके धर्म श्रवण कर पौषध पारूंगा ।

अब सूर्योदय होते ही शंख अक्षुब्ध वासना से पैदल चल कर वीरप्रभु के चरणों में नमन करने गया। व वीर को नमन करके बैठा इतने में अन्य श्रावक भी वहां आये और वे भी जिन को नमन करके बैठ गये तब भगवान इस प्रकार धर्म कहने लगे ।

अहो ! भवितव्यता के योग से यह मनुष्य भव पाकर तुमको सकल क्लेशों का कारण अभिनिवेश कदापि न करना चाहिये ।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पांच स्थावर हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये चार त्रस हैं। इस प्रकार सब मिलाने से नव विध जीव हैं।

एकेन्द्रिय दो जाति के—सूक्ष्म और बादर—पंचेन्द्रिय दो जाति के—संज्ञि और असंज्ञि—तथा द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मिलकर सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त, इस प्रकार चवदह भेद हैं।

सूक्ष्म व बादर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा अनंतवनस्पति प्रत्येक वनस्पति, तीन विकलेंद्रिय, संज्ञि, असंज्ञि, पंचेन्द्रिय, ये सोलह पर्याप्त व सोलह अपर्याप्त मिलकर बत्तीस प्रकार के जीव होते हैं। ये बत्तीस शुक्लपाक्षिक और बत्तीस कृष्णपाक्षिक अथवा भव्य व अभव्य गिनें तो चौसठ प्रकार के जीव होते हैं अथवा कर्म प्रकृतियों के भेद से अनेक प्रकार के जीव माने जाते हैं।

अजीव पांच हैं — धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, जिनमें प्रथम चार अक्रिय व अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है। उनके भेद, लक्षण, संस्थान, प्रमाण और अल्पबहुत्व से क्रमशः तीन-तीन, तीन, एक और चार इस भांति चउदह भेद हैं।

धर्मास्तिकाय रूप सम्पूर्ण द्रव्य सो स्कंध, उसका अमुक विवक्षित भाग सो देश और छोटे से छोटा अविभाज्य भाग सो प्रदेश। इस भांति अधर्म और आकाश के भी तीन भेद जानो।

काल निश्चय से गिनें तो, भाव परावृति का हेतु अर्थात् पदार्थों के नये जूनेपन का हेतु एक ही है। व्यवहार से गिनें तो, सूर्य की गति से माना जाने वाला समय आदि अनेक प्रकार का है।

व्यवहारिक काल के भेद इस प्रकार हैं— समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और पुद्गल परावर्त्त।

पुद्गल का समूह याने स्कंध, देश, प्रदेश तथा परमाणु ऐसे पुद्गल के चार भेद हैं। परमाणु वह सूक्ष्म होता है और उसको दो स्पर्श, एक वर्ण, एक रस तथा एक गंध होती है। यह भेद द्वार हुआ, अब लक्षण द्वार कहते हैं—

गति परिणत पुद्गल और जीव की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है। वह जलचर जीवों को जिस तरह जल सहायक है, उसी तरह गमन करने में सहायक है। स्थिति परिणत पुद्गल और जीव की स्थिति में सहायक अधर्मास्तिकाय है। वह पथिकों को घनी तरु छाया के समान स्थिर रहने में सहायक है।

सब का आधार, सब में व्याप्त और अवकाश देने वाला आकाश है और भावपरावृत्ति लक्षण से अद्धा द्रव्य (काल) जानो।

छाया, आतप, अंधकार आदि पुद्गलों का लक्षण यह है कि-वे उपचय, अपचय पाने वाले हैं, लिये छोड़े जा सकने वाले हैं। रस, गंध, वर्ण आदि वाले हैं इत्यादि।

लक्षण द्वार कहा, अब संस्थान द्वार कहते हैं—

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक के आकार वाले हैं। काल वर्तना रूप संस्थान रहित है - वह द्रव्य का पर्याय है तो भी उपचार से द्रव्य माना जाता है। अलोकाकाश शुषिर वर्तुल गोल आकार वाला है और लोकाकाश वैशाख स्थित (चौड़े पग करके खड़े हुए) और कमर पर हाथ रखने वाले मनुष्य के समान है। अचित महास्कंध लोक के आकार वाला और आठ समय पर्यंत रहने वाला है शेष पुद्गल अनेक आकार के हैं और उनकी संख्याती असंख्याती स्थिति होती है।

इस प्रकार संस्थानद्वार कहा, अब प्रमाणद्वार कहते हैं—

धर्म, अधर्म और लोकाकाश एक जीव के प्रदेश समान हैं। काल द्रव्य एक है, पुद्गल के और अलोक के प्रदेश अनंत हैं।

प्रमाणद्वार कहा, अब अल्पबहुत्व कहते हैं—

काल एक गणना से सबसे अल्प संख्या का हुआ। लोक, धर्म, अधर्म, ये तीनों असंख्यप्रदेशी समान हैं, पुद्गल और अलोकाकाश ये दो अनन्त प्रदेशी हैं।

अल्पबहुत्व कहा, अब भावद्वार कहते हैं—

धर्म, अधर्म, आकाश और काल पारिणामिक भाव में हैं, पुद्गल औदयिक व पारिणामिक दोनों भाव में हैं और जीव सब भावों में हैं। भाव छः हैं—दो प्रकार का औपशमिक, नव प्रकार का क्षायिक, अट्ठारह प्रकार का क्षायोपशमिक, इक्कीस प्रकार का औदयिक और तीन प्रकार का पारिणामिक है तथा छठा सान्निपातिक भाव है। पहिले में सम्यक्त्व और चारित्र है, दूसरे में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा दान, लाभ, भोग-उपभोग, वीर्य और सम्यक्त्व ये नौ हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पांच दानलब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संजमासंजम, ये अट्ठारह तीसरे भाव में हैं।

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्ध पणु और असंयम ये इक्कीस चौथे भाव में हैं।

पांचवें भाव में जीव, अभव्यता, भव्यता आदि हैं। इस भांति पांच भावों के त्रेपन भेद हैं। सुखहेतु कर्मप्रकृति पुण्य कहलाता है और दुःख हेतु कर्म प्रकृति पाप कहलाता है। वहां पुण्य के ४२ भेद हैं और पाप के ८२ भेद हैं, वे इस क्रम से हैं—

तिर्यंचायु, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, तीर्थंकर नाम, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस दशक, शुभविहायोगति, शुभ वर्णचतुष्क, मनुष्य,

प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान, निर्माण नाम, आतप नाम, नरत्रिक, सुरत्रिक पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, अगुरुलघु नाम, उद्योत नाम, पांच शरीर, तीन अंगोपांग, इस प्रकार ४२ पुण्य प्रकृति है। यह पुण्य तत्त्व कहा।

स्थावर दशक, नरकत्रिक, शेष संघयण, शेष जाति, शेष संस्थान, तिर्यक्द्विक, उपघात नाम, अशुभ विहायोगति, अप्रशस्त वर्ण-चतुष्क, ज्ञानावरण पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरण नौ, नीचगोत्र, असाता वेदनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और पचीस कषाय, ये ८२ पाप प्रकृति हैं। यह पाप तत्त्व कहा।

जीव में जिससे समय-समय भव भ्रमण हेतु कर्म का आश्रव-आगमन हो याने भरे सो आश्रव, उसके ४२ भेद हैं—

पांच इन्द्रिय, पांच अव्रत, तीन योग, चार कषाय और २५ क्रिया, इस प्रकार ४२ आश्रव हैं।

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पांच इन्द्रियां हैं, वैसे ही जीवहिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह, ये पांच अव्रत हैं। अप्रशस्त मन, वचन, तन ये तीन योग हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं और पचीस क्रियाएँ वे ये हैं—

कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातिकी, आरंभिकी, परिग्रहिकी, माया प्रत्ययिकी, मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, अप्रत्याख्यानिकी, दृष्टिकी, पृष्टिकी, प्रातीत्यकी, सामंतोपनिपातनिकी, नैशस्त्रिकी, स्वाहस्तिकी, आज्ञापनिकी, विदारणिकी, अनाभोगिकी, अनवकांक्षाप्रत्ययिकी, अन्याप्रयोगिकी, सामुदानिकी, प्रेमिकी, द्वेषिकी तथा ईर्यापथिकी।

इनका संक्षेप में यह अर्थ है—

अयतना याने शरीर से होवे वह कायिकी (१), पशुवध

ादि में प्रवृत्त होने से अथवा खड्ग आदि चनाने से हो सो
ाधिकरणिकी (२), जीव अजीव पर प्रद्वेष लगाने से हो सो
ाद्वेषिकी (३), निर्वेद (खेद) करने से तथा क्रोधादि से स्वपर को
रिताप करने से होय सो पारितापनिकी (४), प्राणातिपात
रने से होय सो प्राणातिपातिकी (५), कृष्यादिक आरंभ से होय
ो आरंभिकी (६), धान्यादिक परिग्रह से होय सो परिग्रहिकी
७) माया याने पर वंचन से बने सो माया प्रत्ययिकी (८), जिन-
चन के अश्रद्धान से बने सो मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी (९),
अविरति से होवे सो अप्रत्याख्यानिकी (१०), कौतुक वश देखने
से होवे सो दृष्टिकी (११), राग द्वेष से जीवाजीव का स्वरूप पूछने
से या राग से घोड़े आदि की पीठ पर हाथ फेरने से होय सो पृष्टि
की वा स्पृष्टि की (१२), जीवाजीव की प्रतीत्य – आश्रित्य कर्म
बांधने से प्रातीत्यि की (१३), वैल घोड़े आदि को देखने के लिये
चारों ओर से आये हुए व प्रशंसा करते लोगों को देखकर प्रसन्न
होने से अथवा खुले रखे हुए वरतन में चारों ओर से गिरते
हुए त्रस जीवों से बने सो सामंतोपनिपातनिकी (१४), राजा
आदि की आज्ञा से सदैव यंत्र शस्त्र चलाने से होय सो नैशस्त्रिकी
(१५), श्वान आदि जीव से या शस्त्रादिक अजीव द्वारा शशक
(खरगोश) आदि को मारते होवे सो स्वाहस्तिकी (१६), जीवा-
जीव को आज्ञा देने से या मंगाने से होय सो आज्ञापनिकी
अथवा आनयनिकी (१७), जीवाजीव का छेदन करने से होय
सो विदारणिकी (१८), अनुपयोग से वस्तु लेने देने से होय सो
अनाभोगिकी (१९), इहलोक परलोक विरुद्ध आचरण से होय
सो अनवकांक्षप्रत्ययिकी (२०), दुःप्रणिहित मन, वचन, काया,
रूप योग से होय सो प्रायोगिकी (२१), जिससे आठ कर्मों का
समुपादान होय सो सामुदानिकी (२२), माया और लोभ से होय

लिंगस्थ को भी उक्त शय्यातर वर्जनीय है, उस को त्याग करने वाले अथवा भोगने वाले युक्त अथवा अयुक्त सबको वह वर्जनीय है, यहां स्नापण का दृष्टान्त है। (शय्यातर भोगने में ये दोष हैं) तीर्थंकर का निषेध है, अज्ञातपन नहीं रहता उद्गम (आधाकर्म) की शुद्धि नहीं रहती, निस्पृहता नहीं रहती, लघुता होती है, वसतिदुर्लभ हो जाती है और वसति का व्युच्छेद होता है।

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के अतिरिक्त शेष तीर्थंकरों ने तथा महाविदेह के तीर्थंकरों ने भी लेश से किसी कारणवश आधाकर्मी तो भोगा है, किन्तु सागरिक पिंड याने शय्यातरपिंड नहीं भोगा।

गच्छ बड़ा होवे तो प्रथमालिका—नवकारशी—पानी आदि लेने जावे तब तथा स्वाध्याय करने की शीघ्रता हो तब उद्गमादिक अन्य दोष किये जा सकते हैं। दो प्रकार की रुग्णावस्था में, निमंत्रण में, दुर्लभ द्रव्य में, अशिव (उपद्रव युक्त काल) में, अवमोदरिका (दुर्भिक्ष) में, प्रद्वेष में और भय में शय्यातर के आहार का ग्रहण अनुज्ञात है।

शय्यातरपिंड कौन २ सी वस्तु है सो गिनाते हैं

अशन, पान, खादिम, स्वादिम ये चार तथा पादप्रोंछनक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, सूचि, क्षुरप्र, कर्णशोधनिका और नखरदनिका (नेण) ये शय्यातरपिंड हैं।

किन्तु तृण, डगल, गोबर, मल्लक (शराव), शय्या, संस्तारक, पीठ, लेप आदि शय्यातरपिंड नहीं माने जाते, वैसे ही उपधि (उपकरण) सहित शिष्य भी शय्यातर नहीं।

शेष स्थित—कल्प प्रसिद्ध हैं।

[illegible]

[illegible]

राजसभा में आने पर भी [illegible] किसी को दूषित नहीं करते, वैसे ही धर्म को [illegible] करने वाला [illegible] भोगादि [illegible] नहीं होते।

कमलसेठ के समान, उसकी कथा इस प्रकार है—

यहां भद्र प्रतिष्ठित विजयपुर नगर में दुश्मन राजाओं को त्रास करने वाला यशोजलधि नामक राजा था। वहां जिनधर्म रूपी श्रेष्ठ आम्रवृक्ष में तोते के समान और सत्यवादी कमल नामक नगर सेठ था, उसको कमलश्री नामक स्त्री थी।

उनके विमल नामक पुत्र था, किन्तु वह चेष्टा से तो मल्युक ही था, क्योंकि चन्द्र कलाओं का कुलगृह होते भी दोष का अकर न होकर दोषकर ही है।

वह माता पिता के मना करने पर भी बैलों पर योग्य माल लादकर सोपारक की सीमा पर बसे हुए मलयपुर में स्थल मार्ग से आ पहुँचा।

वहां वह अपना माल बेच कर उसके बदले में दूसरा माल लेकर अपने नगर की ओर बैलों के पैरों के धक्के से मानो पृथ्वी को कंपित करता हो, वैसे पीछा फिरा।

इतने में असमय बरसात होने से उसके पानी से रास्ते भर गये इससे कितनेक दिन तक वह तम्बू लगाकर वहीं रहा । उसी समय उसी के नगर का वासी सागर नामक वणिक समुद्र उतर कर वहां आया उसे देखकर विमल कहने लगा कि--

हे भद्र ! आओ, अपन साथ मिलकर अपने नगर को चलेंगे। सागर बोला कि- हे मित्र ! मेरी पन्द्रह दिन प्रतिक्षा करो तदनुसार विमल ने स्वीकृत किया । अब कमल पुत्र विमल ने सागर सेठ का जो माल बिका उसमें से हस्त संज्ञादिक से दस सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएँ पचा लीं । कार्य पूरा होने पर वे दोनों सोम और भीम के सदृश सौम्य और भीम गुणयुक्त घोड़ों पर चढ़कर अपने नगर की ओर चले ।

वे अपने नगर के समीप आये तब कमल सेठ अपने पुत्र के सन्मुख आया तो इन दोनों ने उसे प्रणाम किया। पश्चात् वे तीनों साथ-साथ चलने लगे । इतने में सागर बोला कि-हे पवित्रमति मित्र ! मैं तुझे दृष्ट सदृश कुछ अदृष्ट भी कहता हूँ । यहां से कुछ दूर पर उत्तम आमों से भरी हुई गाड़ी जा रही है, उसे कुष्ठ रोग पीड़ित ब्राह्मण हांक रहा है, उसमें दायीं ओर गलीआ बैल जुता हुआ है और बायीं ओर लंगड़ा बैल जुता हुआ है। गाड़ी के पीछे-पीछे उससे लगे बिना चांडाल पैदल-पैदल जा रहा है व किसी की बहू सगर्भा होते रुष्ट होकर लौटी है, उसके गर्भ में लड़का है ।

उस स्त्री के अंग में कुंकुम लगा हुआ है, सिर में वह बकुल पुष्पों की माला पहिने हुए है, उसके शरीर में फोड़े हो रहे हैं, उसकी साड़ी लाल है और शीघ्र ही प्रसव करने वाली है, वह स्त्री इस गाड़ी पर सवार है ।

तब कमल पुत्र बोला कि– तू ज्ञानी के समान बिना संदेह के ऐसा कैसे बोलता है ?

क्योंकि–मूर्ख मनुष्य तो मुँह प्राप्त होने से मनमाना कुछ तो भी बकते हैं किन्तु तेरे समान अपने को वश में रखने वाले मनुष्यों ने तो ऐसा कदापि न बोलना चाहिये। सागर बोला कि–हे भाई! मैं तो भ्रांति बाधा बिना ही यह कहता हूँ, शुद्ध हेतु के समान यह वृथा हो ही नहीं सकता तथा जब हाथ में कंकण हो तब दर्पण की क्या आवश्यकता है, इसलिये इसका निश्चय करना हो तो गाड़ी समीप ही जा रही है।

विमल बोला– ऐसी धृष्टता क्यों बताता है ? सागर बोला कि– तेरे समान धृष्ट के साथ बोलता हूँ, अतः मैं धृष्ट ही हूँ।

तब विमल उसके धन पर लुभाकर बोला कि– जो यह बात सत्य होवे तो मेरा जो धन है वह तेरा हो जायगा, अन्यथा तेरा धन मेरा है। तब सागर क्रुद्ध हो हाथ पर हाथ लगा कर कमल को कहने लगा कि– हे सेठ ! हम दोनों की यहां तू साक्षी है।

सेठ बोला कि– हे सागर ! यह तो मूर्ख है, तू भी मूर्ख क्यों बनता है ? इतने में विमल बोला कि – हे पिता ! मेरी लघुता क्यों करते हो ?

सागर बोला कि– हे सेठ ! जो यह तुम्हारा पुत्र मेरे पांव पड़े तो मैं इसे शर्त से मुक्त करूं। विमल बोला कि– जब मैं तेरा धन ले लूंगा और तू भीख मांगेगा तब कुरो तेरे पांव लगेंगे।

इस प्रकार लड़ते-लड़ते चलकर गाड़ी से जा मिले, वहां स्त्री को न देखकर विमल प्रसन्न हुआ। उसने गाड़ीवान को पूछा कि– यहां वह स्त्री क्यों नहीं दिखती है ? तब वह बोला कि – भाई !

के लिये भी असत्य बोलना उचित नहीं, कारण कि-यही वास्तविक सत्य वचन रूप सोने की कसौटी है।

जो सत्य कहने से पुत्र कुपित हो तथा कुटुम्ब विरक्त हो जावे तो हो, परन्तु असत्य बोलना योग्य नहीं।

क्योंकि कहा है कि—

नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी अपनी इच्छानुसार आवे कि जाय, आज ही मृत्यु हो जाय या युगान्तर में होवे किन्तु न्यायवाले मार्ग से धीर पुरुष एक कदम भी नहीं हटते।

यथार्थ बात आप स्वयं जानते हो तथापि मुझे सत्य बात पूछते हो तो (मैं कहता हूँ कि,) यहां सागर का कथन सत्य है। यह सुन राजा ने अत्यन्त हर्ष से पुलकित हो अपना हार कमल सेठ के पवित्र कंठ में पहिरा दिया।

साथ ही वह बोला कि-सत्य लोगों को नित्य कृतकृत्य करता है। तथा वास्तविक सुकृत वाले पुरुष सत्य ही बोलते हैं। सत्य से यह पृथ्वी पुरुषों को पद पद पर रत्न-गर्भा हो जाती है और समस्त चतुरजन सत्य ही को चाहते हैं।

सत्य से झाड़ फल देते हैं, समय पर जलवृष्टि होती है और अग्नि आदि दब जाती है, यह सत्य ही की महान् महिमा है। सत्य कायम हो तो पुरुषों को दुर्गति का भय नहीं होता, इसलिये हे दृढ़-सत्य कमल! तुझे सत्यवादियों में प्रथम पगड़ी मिले।

यह कह हर्षित हो राजा ने सद्‌चित्त सज्जन कमल सेठ के मस्तक पर सोने की पगड़ी बंधाई। अब राजा विमल को कहने

लगा कि-हे दुष्ट! तू सत्यहीन होने से यद्यपि जीभ काटने के योग्य है, तथापि कमल का पुत्र है इसलिये तुझे विमुक्त करता हूँ।

अब सागर भी प्रसन्न होकर बोला कि-हे राजन! मैं सकल माल पवित्रात्मा और निर्लोभी कमलसेठ को दूंगा। तब उसकी महान् पवित्र सद्बुद्धि से प्रसन्न होकर उक्त नृपति-सिरोमणि ने सागर को मंत्रीश्वर पदरूप पानी का सागर बनाया। इस प्रकार यथार्थ भाषण में निपुण कमल ने निर्मल लक्ष्मी पाई और दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्तकर मुक्ति को गया।

इस प्रकार मृषावाद रूप वृक्ष को गिराने के लिये दीप्तिमान हाथी के समान कमल सेठ का यथार्थ वृत्तान्त सुनकर, हे जनों! तुम निंदनीय असत्य वाक्य का त्याग करके सदैव यथार्थ कहने का यत्न करो।

इस प्रकार कमल सेठ की कथा है।

इस प्रकार ऋजुव्यवहार में यथार्थ भाषण स्वरूप प्रथम भेद कहा, अब दूसरा भेद कहते हैं- अवंचिगा किरिया - अवंचक क्रिया अवंचक याने दूसरे को हैरान न करने वाली क्रिया— अर्थात् मन, वचन, काया के व्यापार, वह दूसरा ऋजुव्यवहार का लक्षण है, क्योंकि कहा है कि शुद्ध धर्मार्थी पुरुष नकली माल बनाकर अथवा न्यूनाधिक तौल मापकर दूसरे को देने लेने में ठगे नहीं।

सुमतिवान् पुरुष वंचन क्रिया से यहां केवल पाप मात्र ही उत्पन्न होता है, ऐसा देखता हुआ हरिनंदी के समान उससे सर्व प्रकार दूर रहता है।

हाय हाय ! मैंने मन में लुब्ध होकर इस बेचारी भोली को क्यों ठगा, क्योंकि धन दूसरों ने खाया और पाप तो मुझे ही लगा। हाय, धिक्कार ! अभी तक परवंचन में मन रखकर मैंने अपनी आत्मा को महान् दुःख वाली नरकाग्नि का ईंधन क्यों बनाया ?

यह सोचकर वह कुछ दूर गया, इतने में मार्ग में जाते हुए एक मुनि को देखकर वह इस प्रकार बोला—हे भगवन् ! क्षणभर ठहरिये, मुनि बोले कि—हम अपने काम को जाते हैं, सेठ बोला कि—हे स्वामिन् ! तुमरे कौन पराये काम को भटकते हैं।

तब वे अतिशय ज्ञानी साधु बोले कि—तू ही परकार्य से भटकता है, तब वह मर्म से अटका हो, उस भांति उसी वचन से प्रतिबुद्ध हो गया। वह हर्षित हो, मुनि को वंदन करके पूछने लगा कि-हे भगवन् ! आप कहां रहते हो ? मुनि बोले कि—यहां के उद्यान में।

पश्चात् मुनि का कहा हुआ धर्म सुनकर वह विनन्ती करने लगा कि—हे प्रभु ! मैं आपसे दीक्षा लूंगा तथापि स्वजन वर्ग की आज्ञा लाता हूँ। यह कह मुनि को नमन करके घर आ, स्वजनों को एकत्रित कर कहने लगा कि, यहां विशेष लाभ नहीं मिलता, इसलिये दिग्यात्रा को जाता हूँ।

यहां दो सार्थवाह हैं—एक अपने पास रत्न देता है, इच्छित नगर को ले जाता है, और पहिले उधार दिया हुआ मांगता नहीं। दूसरा कुछ भी देता नहीं, इच्छित नगर को ले जाता नहीं, पूर्व संचित ले लेता है, अतः बोलो, किसके साथ जाऊं।

दीप्तिवंत कान्तिवान था और सूर्य के समान असज्जनों को त्रास देने वाला था।

उसके वसुमित्र नामक निर्धर्मी और गुणहीन व लोहमय बाण के समान परमर्म को बींधने वाला और कपट-प्रीति करने वाला मित्र था। वे दोनों किसी प्रकार माता पिता की रजा लेकर बहुत सा माल लेकर देशान्तर को चले।

अब मित्र पर द्वेष रखने वाला व कौशिक-सर्प के समान दोष से भरा हुआ वसुमित्र मित्र के धन में लुब्ध हो मार्ग में इस प्रकार विवाद करने लगा – जीवों की धर्म से जय होती है कि पाप से? सो हे मित्र! मुझे कह, तब सुमित्र बोला कि, धर्म ही से जय है, पाप से नहीं।

क्योंकि-पूर्णद्रव्य, निर्मलकुल, अखंडआज्ञा का, ऐश्वर्य, अभंगुर बल, सुरसंपदा और शिवपद ये निश्चय करके जीवों को धर्म ही से मिलते हैं। जो पाप से वृद्धि, ऋद्धि, सिद्धि होती हो तो यहां कोई जड़, दरिद्र वा असिद्ध रहे ही नहीं।

चंद्रमा हरिण को रखता (रक्षा करता) है तथापि मृग लांछन कहलाता है और सिंह हरिणों को मारता है तो भी मृगनाथ कहलाता है, अतएव पाप ही से जय है, ऐसा वसुमित्र बोला।

इस प्रकार दोनों जने विवाद करते हुए सर्व लोगों के सन्मुख शर्त की प्रतिज्ञा करके किसी बिलकुल धर्म से अजान ग्राम में गये। वहां अत्यंत मत्सर से भरे हुए वसुमित्र ने देहाती लोगों को अपना पक्ष पूछा, तो वे बोले कि अधर्म ही से जय है।

वे बोले कि-जो दूसरों को ठगने में तत्पर करुणाहीन व सदैव असत्य बोलने वाला होता है, वे ही देखो, प्रत्यक्ष अतुल लक्ष्मी सम्पन्न हैं।

दूसरों ने भी कहा है कि—

अति सरल नहीं होना, वनस्पति को देखो-जो सरल होती है वह काटी जाती है और टेढ़े झाड़ खड़े रहते हैं।

तथा गुणों ही की बुराई से भोरी बैल को धुरी में जोतते हैं और गलीया बैल अपने कंधे में कोई प्रकार का घाव पड़े बिना ही सुख से खड़ा रहता है। तब इन मूर्खों को उत्तर देने में सुमित्र असमर्थ हो गया, जिससे वसुमित्र ने उसका सर्वस्व ले लिया और उसे साथ से अकेला निकाल दिया। वह सहसा वन में पड़कर चिंता और दुःख से संतप्त होते हुए भी स्वभाव ही से सन्मित्रता वाला होने से इस प्रकार विचारने लगा—

हे जीव! पूर्व जन्म के कटु-कर्म रूप वृक्ष का यह फल भोगते हुए तुझे संतोष रखकर वसुमित्र से प्रद्वेष का त्याग करना चाहिये. यह सोचकर सुमित्र रात्रि को जंगली जानवरों से डरता हुआ एक विशाल वट वृक्ष की खोल में घुस गया।

इतने में उस वृक्ष पर द्वीपांतर से आये हुए पक्षियों को उनमें के एक बड़े पक्षी के पूछने पर उन्होंने जो बात की, वह सुनी। हे पक्षियों! बताओ कि– कहां से कौन यहां आया है और द्वीपांतर में किसने क्या–क्या नया देखा वा सुना है? तब उन्होंने भी वहां जो देखा–सुना था, सो सब उसे कहा। इतने में उनमें से एक इस प्रकार बोला—

हे तात! मैं आज सिंहल द्वीप में से आया हूँ, वहां के राजा के रति को रूप को जीतने वाली मदनरेखा नामक पुत्री है।

उसकी आंखों में पीड़ा होती है, उसे आज तीसरा मास हो गया है। वैद्यों ने उसका रोग असाध्य बताया है, जिससे उसके पिता ने यहां ऐसी घोषणा की है कि— जो मेरी पुत्री को निरोग करे उसीसे मैं इसका विवाह करूंगा और साथ ही आधा राज्य भी दूंगा।

किन्तु हे तात! अभी तक किसी ने पड़ह को छुआ नहीं। उस पड़ह को आज छठा दिन है, इसलिये हे तात! कहिये कि उसको आंखों के रोग की कोई औषधि है या नहीं? तब वृद्ध पक्षी बोला कि— निश्चयतः इसको जानते हुए भी दिवस में भी नहीं कहना चाहिये, तो फिर हे पुत्र! रात्रि में किस प्रकार कहा जाय?

उस पक्षी ने कहा कि— हे तात! हमारा निवास स्थान बहुत बड़ा है, जिससे यहां कोई सुनने वाला नहीं, इसलिये कहो। तब वह बोला कि— हे वत्स! मैंने पूर्व में ऐसा सुना है कि—

मार्ग में चलते हुए और रात्रि को यहां बसे हुए जैन साधु बोलते थे कि— यह वृक्ष बहुत उत्तम लक्षणों वाला व आंख के रोग का नाशक है। यदि कोई इस वृक्ष के पत्तों का रस उसकी आंखों में डाले तो उसे शीघ्र आराम हो जावे।

यह बात सुनकर सुमित्र सोचने लगा— षट् काय के हितकर्त्ता, मित्रता गुण के मंदिर, दुरित रूप अग्नि बुझाने में मेघ समान और सम्यक् ज्ञान रूप रत्न के रत्नाकर समान जैन मुनि असत्य नहीं बोलते। यह निश्चय कर उस वृक्ष के स-रस पत्ते साथ लेकर उसने अपने को सिंहलद्वीप से आये हुए भारंड पक्षी के पैर में बांधा। अब वह भारंड पक्षी उसे वहां ले गया। वहां पड़ह को छूकर राजा के पास गया। राजा ने उसकी उचित प्रतिपत्ति करके कुशल वार्त्ता पूछी, उसने कुशल वार्त्ता कहकर संध्या को बलि—

का स्थान है। तब राजा आतुर होकर बोला कि– जब तक यह बात बाहिर फैली नहीं, तब तक इसे शीघ्र गुपचुप मार डालो।

मंत्री ने यह बात स्वीकार की, पश्चात् राजा ने अपनी पुत्री को एकांत में पूछा कि– तेरे पति ने कोई अकुलीनता का विचार सत्य किया है (प्रकट किया है)? वह बोली कि–चन्द्रमा में तो कलंक है पर मेरे पति में तो वह भी नहीं। वह तो दूसरे का गुह्य सम्हालने में केवल गुणमय-मूर्ति है।

इतने में सुबुद्धि मंत्री ने अपने विश्वस्त मनुष्यों के द्वारा नाटक देखने के मिष से सुमित्र को संध्या समय अपने यहां बुलवाया। किन्तु पुण्य के बल की प्रेरणा से सुमित्र ने उस समय अपना वेष वसुमित्र को पहिरा कर वहां भेजा, उसे सुबुद्धि के मनुष्यों ने मार डाला।

यह जानकर राजा दुःखी होने लगा कि– मेरी पुत्री का अब क्या होगा? इतने में वह आकर पूछने लगी कि– पिताजी! यह क्या बात है? राजा बोला कि– मैं तेरे वैधव्य का करने वाला पापी हूँ। तब वह बोली कि– आपके जमाई तो घर पर बैठे हैं।

यह सुनकर राजा के सुमित्र को एकान्त में पूछने व आग्रह करने पर उसने वसुमित्र का सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। तब राजा विचार करने लगा कि–अहो! इसका मैत्री-भाव देखो और मत्सर-भीरुता तथा धर्म में सुस्थिरता देखो।

यह सोच विस्मित हो राजा मंत्री व पौरजनों को कहने लगा कि– सुमित्र का चित्त सचमुच मित्रता वाला है। तदनंतर सुमित्र ने हर्षित होकर अपने माता पिता को वहां बुलाये और राजा ने बड़ी धूमधाम से उनका नगर में प्रवेश कराया। माता पिता के

वहां आ जाने से वंश का हाल भी ज्ञात हो गया और वह (सुमि स्वपर को सुख का दाता हो दीक्षा ले अनुक्रम से सुगति पहुँचा। मैत्रीभाव रहित और स्वपर का निरंतर अहितकारी बहु मित्र मरकर नरक में गया और अत्यन्त घोर संसार में भ्रमण करेगा

इस प्रकार समस्त सत्त्व के मित्र सुमित्र का वृत्तान्त सुनक हे भव्य जनों ! तुम दुःखलता को नष्ट करने वाली सद् मित्रता में अत्यन्त आदरवान होओ।

इस प्रकार सुमित्र की कथा है।

इस भांति ऋजुव्यवहार में सद्भाव मैत्री रूप चौथा भेद कहा, उनको कहने से चारों प्रकार के ऋजुव्यवहार का स्वरूप कहा, अब इसके विरुद्ध वर्ताव का दोष बताकर क्या करना सो कहते हैं—

अन्नह भणणाईसु अबोहिबीयं परस्स नियमेण।
तत्तो भवपरिवुड्ढी ता होज्जा उज्जुववहारी ॥४८॥

मूल का अर्थ—अन्यथा-भाषण आदि करते दूसरों को नियम से अबोधि बीज के कारण हो जाते हैं और उससे संसार बढ़ जाता है, अतएव ऋजुव्यवहारी होना चाहिये।

टीका का अर्थ—अन्यथा-भणन याने यथार्थ-भाषण आदि शब्द से अवंचक क्रिया, दोषों की उपेक्षा तथा कपट मित्रता लेना चाहिये। ये दोष होवे तो श्रावक दूसरे मिथ्यादृष्टि जीव को निश्चयतः अबोधि का बीज हो जाता है अर्थात् उससे दूसरे धर्म नहीं पा सकते। कारण कि— इन दोषों में लीन श्रावक को देखकर वे ऐसा बोलते हैं कि— "जिन शासन को धिक्कार हो कि— जहां श्रावकों को ऐसे शिष्ट जनों को निंदनीय मृषा-भाषण आदि कुकर्म

से रोकने का उपदेश नहीं किया जाता " इस प्रकार निन्दा करने से वे प्राणी कोटि-जन्म पर्यन्त भी बोधि को नहीं पा सकते, जिससे वह अबोधि बीज कहलाता है और उस अबोधि बीज से निन्दा करने वाले का संसार बढ़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसके निमित्त-भूत श्रावक का भी संसार बढ़ता है।

क्योंकि कहा है कि- जो पुरुष अनजान में भी शासन की लघुता करावे, वह अन्य प्राणियों को उस प्रकार मिथ्यात्व का हेतु होकर उसके समान ही संसार का कारण कर्म-संचय करने को समर्थ हो जाता है कि-जो कर्म, विपाक में दारुण, घोर और सर्व अनर्थ का बढ़ाने वाला हो जाता है।

ऋजुव्यवहार रूप भाव-श्रावक का चौथा लक्षण कहा। अब गुरु-शुश्रूषक रूप पांचवां लक्षण कहते हैं—

सेवाइ कारणेण य संपायणभावओ गुरुजणस्स ।
सुस्सूसणं कुणंतो गुरुसुस्सूओ हवइ चउहा ॥४१॥

मूल का अर्थ— गुरुजन की सेवा से, दूसरों को उसमें प्रवृत्त करने से, औषधादिक देने से तथा चित्त के भाव से गुरु की शुश्रूषा करता हुआ चार प्रकार से गुरु शुश्रूषक होता है।

टीका का अर्थ— सेवा से याने पर्युपासना द्वारा, कारण से याने दूसरों को उसमें प्रवृत्त करने से, संपादन से याने गुरु को औषधादिक देने से और भाव से याने चित्त के बहुमान से गुरु-जन को याने आराध्य वर्ग को, यहां यद्यपि माता पिता भी गुरु माने जाते हैं तो भी यहां धर्म के प्रस्ताव से आचार्य आदि ही प्रस्तुत हैं अतः उन्हीं के उद्देश्य से गुरु शुश्रूषक की व्याख्या करना।

गुरु के लक्षण इस प्रकार हैं—

धर्म का ज्ञाता, धर्म का कर्ता, नित्य धर्म का प्रवर्त्तक और जी को धर्म-शास्त्र का उपदेश देने वाला हो, वह गुरु कहलाता है गुरु के बदले गुरुजन कहा यह अधिकता बताने के लिये, अ जो कोई पूर्वोक्त गुरु लक्षणों से लक्षित हों उन सबको गुरु-श से ग्रहण करना चाहिये। जिससे वैसे गुरुजन की शुश्रूषा या पर्युपासना करता हुआ गुरु-शुश्रूषक माना जाता है। वह चा प्रकार का है, यह गाथा का अक्षरार्थ है।

भावार्थ तो सूत्रकार ही बताते हैं, वहां सेवा रूप प्रथम भे का आधी गाथा द्वारा वर्णन करते हैं—

सेवइ कालंमि गुरुं अकुणंतोज्झाणजोग वाघायं।

मूल का अर्थ-- गुरु के ध्यान-योग में बाधा न देते समय पर उनकी सेवा करे।

टीका का अर्थ-- काले-अवसर पर पूर्वोक्त स्वरूप वाले गुरु की सेवा करे अर्थात् उनकी पर्युपासना करे (किस प्रकार सो कहते हैं)। धर्म-ध्यानादि ध्यान तथा प्रत्युपेक्षणा और आवश्यक आदि योग में व्याघात याने अंतराय न करते। जीर्ण सेठ के समान

जीर्ण सेठ की कथा इस प्रकार है--

मनोहर जनशालिनी वैशाली नामक नगरी थी, वहां जिनदत्त नामक निर्मल बुद्धिमान श्रावक था। वह सदैव जिन के चरण कमल की सेवा करने में भ्रमर समान रहता था और सेठ की पदवी से रहित हो गया था, इससे जीर्ण सेठ के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। वहां बाहिर के देवालय में श्री वीर प्रभु एक समय छद्मस्थपन में कायोत्सर्ग में खड़े थे।

जीर्ण सेठ होते हुए भी उसकी धर्म पर वासना अजीर्ण थी, वह त्रैलोक्य में सूर्य समान जिनेश्वर को देखकर कोक पक्षी के समान हर्षित हुआ। वह उनके ध्यान में विघ्न किये बिना अपने जन्म का फल प्राप्त करने के लिये जगत् पूज्य जगद् गुरु की सेवा करने लगा।

वह चिरकाल सेवा करके अपने घर आया। उसने विचार किया कि- भगवान आज कहीं भी गये नहीं, अतः उपवासी होना चाहिये। इस प्रकार नित्य सेवा करता हुआ वर्षाकाल पूर्ण होने पर विचार करने लगा कि- जो स्वामी मेरे घर पधारें, तो अच्छा है। इस भांति ध्यान करके व स्वस्थ मन से चिरकाल तक घर में रहा और मध्याह्न के समय घर के द्वार पर खड़ा रहकर इस प्रकार सोचने लगा- जो आज यहां जंगम-कल्पवृक्ष समान वीर-प्रभु पधारेंगे तो मस्तक पर अंजली बांधकर सन्मुख जाऊँगा और उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर परिवार सहित वंदन करूंगा और फिर उनको निधान के समान घर में लाऊँगा और वहां उनको उत्तम प्रासुक एषणीय आहार, पानी से भक्ति पूर्वक पारणा कराऊँगा, जो कि (पारणा) संसार-समुद्र तारने में समर्थ है। पुनः उनको नमन करके कुछ पद उनके पीछे जाकर तत्पश्चात् अपने को धन्य मानता हुआ शेष रहा हुआ खाऊँगा।

इस प्रकार जिनदत्त सेठ मनोरथ करता था, इतने में श्री वीर-प्रभु भिक्षा के हेतु अभिनव सेठ के घर पधारे। उसने दासी के हाथ से चाटू द्वारा भगवान को उड़द दिलवाये। जिससे उस सुपात्र-दान से वहां पञ्च-दिव्य प्रकट हुए।

वहां राजा आदि एकत्रित होकर उस सेठ की प्रशंसा करने लगे और प्रभु भी वहां पारणा करके अन्य स्थल में विहार करने

गये। इधर जिनदत्त सेठ दूसरी तरफ देव दुन्दुभि सुन [illegible]
[illegible] विचार करने लगा कि—मुझे धिक्कार है, और मैं अधन्य हूँ [illegible]
और प्रभु मेरे यहां नहीं पधारे।

एक बार वे वहां जिन हुए केवली, भगवान् [illegible]
हुआ, वहां राजा आदि आकर उनको नमन करके पूछने लगे कि
यहां पुण्यवान कौन है? केवली बोले कि— जिनदत्त है। राजा
बोला कि— भगवान को पारणा तो अभिनव सेठ ने कराया है।

केवली ने जिनदत्त सेठ की मूल से भावना कहकर कहा कि—
भाव से उसने प्रभु को पारणा कराया है और उसने उस समय
महान् वर्धमान भाव से बारहवें देवलोक को जाने योग्य कर्म संचय किया
है और उसने उस समय देव दुन्दुभि न सुनी होती तो उसी समय
उज्ज्वल केवल-ज्ञान प्राप्त करता और यह भाव शून्य अभिनव सेठ
ने मात्र सुपात्र-दान से स्वर्ण-वृष्टि आदि फल पाया है।

जो जीव सद्भाव से रहित हो तो उसे इहलौकिक फल भी नहीं
मिलता, किन्तु सद् भक्तिवान् हो तो वह क्षण भर में स्वर्ग और
मोक्ष भी पा सकता है। पश्चात् जिनदत्त सेठ की प्रशंसा करके वे
सब अपने अपने स्थान को चले गये और वह सेठ भी चिरकाल
तक धर्म का आराधन करके बारहवें अच्युत देवलोक को पहुँचा।

इस भांति शुद्ध-दृष्टि जीर्ण सेठ का सद्भाव युक्त वृत्तान्त सुन
कर, हे भव्यों! तुम सद्गुरु की सेवा की आदत धारण करो।

इस प्रकार जीर्ण सेठ की कथा है।

इस प्रकार गुरु-शुश्रूषक लक्षण का गुरु-सेवा रूप [illegible]
[illegible] कारण रूप दूसरा भेद कहने के लिये [illegible]
[illegible] कहते हैं—

मइ वन्नणाइ करणा अन्नेवि पवत्तए तत्थ ॥ ५० ॥

मूल का अर्थ—सदा स्वतः वर्णन आदि करके दूसरे को भी उसमें प्रवृत्त करता है।

टीका का अर्थ— सदैव वर्णवाद करके याने कि नित्य सद्-गुण वर्णन करके अन्य प्रनादियों को भी पद्मशेखर महाराजा के समान गुरु-सेवा में प्रवृत्त करे।

पद्मशेखर महाराज की कथा इस प्रकार है—

समुद्र का जल पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) का शयनस्थल है, श्रेष्ठ रत्नों युक्त है, वैसे ही पृथ्वीपुर नामक नगर भी पुरुषोत्तम (उत्तम पुरुषों) का शयन (निवास स्थान) और रत्न युक्त होते हुए क्षार गुण रहित था। वहां न्यायवान्, व्यसन रहित और महादेव के समान होते भी जड़ संग रहित पद्मशेखर नामक राजा था।

वह बाल्यावस्था ही से विचार पूर्वक भाव से जिन-धर्म अंगीकृत कर, अन्य राजा तथा सरदारों के आगे जिन-धर्म की प्ररूपणा करता था। वह जीवदया की प्रशंसा करता, प्रमाद रहित हो मोक्ष का वर्णन करता तथा बहुमान से नित्य बारम्बार गुरु का इस प्रकार वर्णन करता।

गुरु-महाराज क्षमावान्, जितेन्द्रिय, शांत, उपशमवन्त, राग रोष रहित, परनिंदा-वर्जक और अप्रमत्त होते हैं, वे उपशम रूप शीतल जल के प्रवाह से क्रोध रूप अग्नि को उपशमन करते हैं, और मजबूत जड़ डालकर उगे हुए भव रूप झाड़ को नाश करने के लिये दावाग्नि समान होते हैं।

वे काम को जीतने वाले हैं, तथापि प्रसिद्ध सिद्धि रूप स्त्री के विलास सुख में लीन होते हैं। वैसे ही सर्व-संग के त्यागी

इस प्रकार पाखण्डी होकर वह धर्माभिमुख जनों को बहकाता था, जिससे राजा ने उसे प्रतिबोधित करने के लिये निम्न उपाय की योजना की। उसने यक्ष नामक अपने सेवक को कहा कि— विजय के साथ मित्रता करके उसके रत्न-करंडक में मेरा यह अलंकार पटक आ।

तब यक्ष ने भी वैसा ही करके राजा को खबर दी, तब राजा ने नगर में पटह बजवाने यह घोषणा कराई कि— जिसको किसी भी प्रकार राजा का आभरण मिला हो, वह इसी समय दे देगा तो दोषी न होगा, अन्यथा उसे शारीरिक दण्ड दिया जावेगा ऐसी तीन बार घोषणा कराई।

पश्चात् पुरजनों के साथ अपने पुरुषों को कहा कि— प्रत्येक घर की तलाशी लो। तदनुसार उन्होंने प्रत्येक घर की तलाशी लेते हुए उसे विजय के घर में देखा और उसे पूछा कि— यह क्या किया ?

वह बोला कि— मैं नहीं जानता। वे बोले कि— चोरे हुए को भी नहीं जानता ? यह कहकर वे उसे राजा के पास लाये, तो राजा ने उसे मार डालने की आज्ञा दी। वह प्रकटतः चोर जाना गया, इसलिये किसी ने भी उसे नहीं छुड़ाया। तब विजय दीन होकर यक्ष से कहने लगा:—

हे मित्र ! तू राजा को विनन्ती करके चाहे जैसा दुष्कर दंड निश्चित करके भी मुझे प्राणदान दिला। तब यक्ष राजा को कहने लगा कि— हे देव ! चाहे जो दण्ड करके भी मेरे मित्र को क्षमा करिए। तब राजा बोला कि— जो तेरा मित्र मारा जाकर सुगति को जावे, यह तुझे क्यों नहीं अच्छा लगता है ?

वह बोला कि— ऐसी सुगति नहीं चाहिये. जीवित मनुष्य भद्र देखता है अतः प्राणभिक्षा दीजिए। तब राजा क्रुद्ध हो के समान रहकर बोला कि—

चरित्र सुनकर हे जनों ! तुम दर्शन ज्ञान चारित्र संपन्न गुरु महाराज के गुणों का वर्णन करते रहो।

इस प्रकार पद्मशेखर राजा की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार गुरुशुश्रूषा एक लक्षण का कारण नामक दूसरा भेद कहा। अब औषध भेषज संप्रणाम-संप्रदान नामक तीसरा भेद कहने के लिये आधी गाथा कहते हैं:-

ओसह-भेसज्जाई सओ य परओ य संपणामेइ।

मूल का अर्थ:-औषध-भेषज खुद व दूसरे से भी दिलावे।

टीका का अर्थ:-केवल एक द्रव्य रूप अथवा लेप करने को उपयोग में आने वाली सो औषध और बहुत से द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई अथवा पेट में खाने की सो भेषज - आदि शब्द से अन्य भी संयम में सहायक वस्तुएँ गुरु महाराज को स्वयं देकर के व दूसरे से दिला करके भली प्रकार पहुंचावे। श्री ऋषभदेव स्वामी के जीव अभयघोष के समान। कहा भी है कि-

अन्नपान, नाना भांति के औषध, धर्म ध्वज (रजोहरण), कंबल, वस्त्र, पात्र, नाना प्रकार के उपाश्रय, नाना प्रकार के दंडादि धर्मोपकरण वैसे ही धर्म के हेतु अन्य भी जो कुछ पुस्तक, पीठ आदि की आवश्यकता हो, वह सब दान देने में विचक्षण जनों ने मोक्षार्थी भिक्षुओं को देना चाहिये।

और भी कहा है कि- मन, वचन और शरीर को वश में रखने वाले मुनियों को जो औषधादि देता है व पवित्र भाव वाला पुरुष भवोभव निरोगी होता है।

अभयघोष की कथा इस प्रकार है।

पूर्व महाविदेह में शत्रुओं से अजित वत्सावती नामक विजयान्तर्गत प्रभंकरा नामक उत्तम नगरी थी। उसमें सत्कर्म करने में कटिबद्ध और वैद्यक में प्रवीण अभयघोष नामक सुविधि वैद्य का पुत्र था। उसके राजकुमार, मंत्रीकुमार, सार्थवाहकुमार और श्रेष्ठीकुमार चार सद्‌गुणी व प्रशंसनीय मित्र थे।

एक समय वे वैद्य के घर एकत्रित हुए। वहां भ्रमर के समान मधुकरी को फिरते हुए अनगार (घर रहित) एक साधु पधारे।

वे पृथ्वीपाल नामक राजा के गुणाकर नामक पुत्र थे और उनको गलितकुष्ठ हो गया था। यह देख वे मित्र-गण वैद्यकुमार को कहने लगे:—

तुम वैद्य वेश्या के समान सदैव पैसे ही में दृष्टि रख कर लोगों को खाते हो, किन्तु किसी तपस्वी आदि की चिकित्सा नहीं करते। वैद्यकुमार बोला कि— मैं इन मुनि की चिकित्सा करूंगा, किन्तु हे भद्र बन्धुओं! मेरे पास औषधियां नहीं हैं।

वे बोले कि—मूल्य हम देते हैं, तूं इनको उत्तम औषधि बता। वह बोला कि— लाख का गोशीर्ष चन्दन और लाख का रत्नकंबल खरीद लाओ, शेष तीसरा लक्षपाक नामक तैल तो मेरे घर ही में है। अतः उक्त दोनों वस्तुएँ शीघ्र लाओ।

वे दो लाख द्रव्य लेकर कुत्रिकापण की दूकान पर जाकर उक्त दोनों औषधियां मांगने लगे, उनको उक्त दूकानदार सेठ ने पूछा कि [illegible] क्या काम है? वे बोले कि— इनके द्वारा साधु की चिकित्सा करना है।

[illegible] सेठ विचार करने लगा कि— कहां तो इनकी [illegible] [illegible] करने के समान [illegible] [illegible] [illegible] पूर्ण बुद्धि !!

ये जो कर रहे हैं, यह तो मेरे समान जरा से जर्जर हुए शरीर वाले को उचित है। अतः जो भाग्यशाली होते हैं, वे ही यह भार उठाते हैं। यह सोचकर उसने उक्त औषधियाँ बिना मूल्य दे दीं और स्वयं भावितात्मा हो, दीक्षा लेकर मोक्ष को गया।

वे सद्भावनावान सब सामग्री तैयार करके उक्त वैद्यकुमार के साथ साधु के पास गये।

उन्होंने नमन करके उनको पकड़कर उनके सम्पूर्ण अंग में वह तेल लगाया, पश्चात् उन पर कम्बल लपेटा ताकि उसमें से कीड़े निकलें व कम्बल ठण्डा लगने से उसमें घुस गये। किन्तु उनके निकलते समय मुनि को बहुत कष्ट हुआ, जिससे चन्दन द्वारा उन पर लेप करने से वे तुरन्त स्वस्थ हो गये। इस भाँति प्रथम बार प्रयोग करने से त्वचा के कीड़े निकले, दूसरी बार मांस के और तीसरी बार में अस्थियों में से कीड़े निकले।

उन कीड़ों को वे दयालु कुमार मृत बैल के शव में डाल आये और पश्चात् संरोहिणी औषधि से साधु को शीघ्र ही स्वस्थ कर दिया। पश्चात् उन मुनि को प्रणाम कर, क्षमा करके उस कंबल को आधे मूल्य में बेचकर, उससे जिन-मन्दिर बंधवाया।

पश्चात् वे गृही धर्म और उसके अनन्तर संयम स्वीकार कर अच्युत देवलोक में इन्द्र सामानिक देवता हुए। वहाँ से च्यवन कर महाविदेह में पाँचों भाई हो, दीक्षा लेकर सर्वार्थ-सिद्धि विमान में देवता हुए। अभयघोष का जीव वहाँ से च्यवन कर इस भरतक्षेत्र में भव्य जनों को बोध देने वाले प्रथम तीर्थंकर के रूप में उत्पन्न हुआ और शेष भरत, बाहुबली, ब्राह्मी और सुन्दरी रूप से उसके अपत्य हुए और सब परम पद को प्राप्त हुए।

नगर नारियां रास रमने लगीं।

श्रद्धावंत भव्य-जन कदम कदम पर लकड़ियों से रास खेलने लगे, चारों ओर सुश्राविकाएँ महामङ्गल गाने लगीं। चतुर रसिकों से आगे खींचा जाता हुआ रथ फिरने लगा, प्रत्येक बाजार व प्रत्येक घर में उसकी पूजा होने लगी। उसके पीछे सकल संघ के साथ सुहस्ति आचार्य फिरने लगे, इस भांति चलते-चलते वह रथ राजमहल के द्वार पर आ पहुँचा।

अब राजा मानों अपने कर्म विवर में फिरते हों, इस भांति उस संघ में सुहस्तिसूरि को देख कर संतुष्ट हो विचार करने लगा-

मैं सोचता हूँ कि- इन दयानिधान मुनींद्र को मैंने पूर्व कहीं देखा है, क्योंकि- ये मेरे मन रूप सागर को चन्द्रमा के समान प्रफुल्लित कर रहे हैं। यह सोचते-सोचते उसे जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, जिससे वह सर्व कार्य छोड़कर गुरु के चरणों में प्रणाम करने को आया।

प्रणाम के अनन्तर वह गुरु को पूछने लगा कि-जिन-धर्म का क्या फल है? सूरि बोले कि- वह स्वर्ग और मोक्ष का फल देता है। तब राजा पुनः बोला कि- अव्यक्त सामायिक का क्या फल है? मुनींद्र बोले कि- राज्य आदि। तब संतुष्ट हो राजा कहने लगा कि- हे भगवन्! मुझे पहिचानते हो? तब आचार्य उत्तम श्रुत ज्ञान के शुद्ध उपयोग से उसे पहिचान कर कहने लगे कि- हे राजन्! तू पूर्व भव में मेरा शिष्य था।

सो इस प्रकार कि- एक समय दुष्काल के समय हम महागिरि आचार्य के साथ मासकल्प से विचरते हुए कौशांवी नगरी में आये। वहां वस्ती तंग होने से व मुनि बहुत से होने से श्री आचार्य महागिरि और हम पृथक-पृथक वस्ती में रहे।

[illegible] भिखारी ने देखा, जिससे वह सोचने लगा कि- श्रमणों के [illegible] की महिमा देखो! ऐसे भिखारी होते हुए, इन पुण्यशालि[illegible] को सब मिलता रहता है, पर मैं पुण्यहीन होने से मारा [illegible] जाता हूँ।

यह सोच वह उनके पीछे लगकर मार्ग में बारम्बार मांग[illegible] लगा कि- हे भगवन्! तुमको [illegible] से मिलता है, तो मुझे थोड़ा-सा दीजिये। तब साधु बोले कि- हे भोले! हम तुझे नहीं दे सकते, क्योंकि हमारे व इस भातपानी के स्वामी गुरु बस्ती में रहते हैं। तब वह आशा से प्रेरित होकर बस्ती में आकर हम से मांगने लगा, साथ ही साधुओं ने भी मार्ग का सब वृत्तान्त कहा। तब हमने श्रुतज्ञान के बल से प्रवचन की उन्नति होने वाली देख कर उससे सामायिक श्रुत का उच्चारण करवा कर शीघ्र ही दीक्षा दे दी।

पश्चात् उसे मन भरकर मनोज्ञ आहार पानी खिलाया, रात्रि में वह तीव्र विशूचिका से शुद्ध मन से मर गया। वही श्री चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के पुत्र अशोक श्री राजा के प्रिय पुत्र कुणाल का पुत्र तू हुआ है। यह सुनकर राजा बहुमान से रोमांचित हो मस्तक पर हाथ जोड़कर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगा—

हे ज्ञान दिवाकर! परोपकार परायण, अत्यन्त करुणा-जल के सागर मुनीश्वर! आपके चरणों को नमस्कार हो। हे करुणानिधि! दारिद्र्य रूप भरपूर समुद्र में डूबते हुए जीवों को पार लगाने के

हेतु जहाज समान, आपके चरणों को नमस्कार हो। चन्द्र, अंकुश, मीन, कलश, वज्र तथा कमल आदि लक्षणों से युक्त आपके चरणों को नमस्कार हो।

इस प्रकार स्तुति कर वह गुरु से गृहि-धर्म स्वीकार कर, घर आ, अपने राज्य में सर्वत्र रथ यात्राएँ करवाने लगा व उसने जैसे रंकपन स्मरण कर सत्रागार (दान शालाएं) खुलवाये और जिस प्रकार अनार्यों को प्रतिबोधित किया सो निशीथ-चूर्णि मे जान लेना चाहिये।

चिरकाल तक जिन-शासन की प्रभावना करके गुरु की शुश्रूषा करता हुआ वह संप्रति राजा वैमानिक देवता हुआ। इस प्रकार धर्म-विचाराश्रयी संप्रति राजा का उदार वृत्तान्त है। इसलिये हे भव्य जनों! तुम मद मान छोड़कर सद्गुरु में बहुमान धारण करो। इस भांति संप्रति महाराज का निदर्शन है।

इस प्रकार गुरुशुश्रूषक लक्षण का भाव रूप चौथा भेद कहा, उसके कहने से भाव श्रावक का पांचवां लक्षण पूर्ण हुआ। अब प्रवचन कुशल रूप छठा लक्षण कहते हैं—

सुत्ते अत्थे-य तहा उस्सग्ग-ववाय भाव-ववहारे।
जो कुसलत्तं पत्तो पवयणकुसलो तओ छद्धा ॥५२॥

मूल का अर्थ— सूत्र में, अर्थ में, वैसे ही उत्सर्ग में, अपवाद में, भाव में और व्यवहार में जो कुशलता रखता हो, वह इन छः प्रकारों से प्रवचन-कुशल माना जाता है।

टीका का अर्थ— यहां उत्कृष्ट वाक्य सो प्रवचन वा आगम कहलाता है, वह सूत्रादिक भेद से छः प्रकार का है। अतः उसके अन्तर्गत स्थित कुशलता भी छः प्रकार की है और उसके सम्बन्ध

…ामक स्त्री थी। उन्होंने यावज्जीवन पर्यन्त चतुष्पद का त्याग …ा, जिससे गोरस मालिक का दिया हुआ वे ग्वाल के हाथ …ते थे।

…व ग्वालों के साथ आने जाने से उनकी प्रीति हो गई, तब …विवाह प्रसंग पर ग्वालों ने उक्त सेठ को निमंत्रण भेजा। …ठ कामकाज की अधिकता से यद्यपि स्वयं वहां नहीं गया, …उसने वहां बहुत से वेष-अलंकार तथा उत्तम वस्त्र भेजे। …ग्वालों की बहुत शोभा बढ़ी और वे प्रसन्न होकर सेठ को …व सम्बल नाम के दो बछड़े देने लगे।

…ठ बोला कि– मेरे चतुष्पद का नियम है। किन्तु तो भी वे …पूर्वक सेठ के घर उनको बांध कर चले गये। अब सेठ …करने लगा कि– जो मैं इनको जोतूंगा, तो दूसरे लोग भी …इच्छानुसार जोतेंगे, इसलिये भले ही ये यहां खड़े रहें। …ठ प्राशुक खाद्य, घांस व छने हुए पानी से स्वयं ही उनका …करने लगा। वह सेठ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास …करता तथा वह पुस्तक पढ़ता व नित्य नया अध्ययन भी करता …सुन-सुनकर वे संज्ञावान (समझदार) भले बैल उपशांत हुए.

…इससे जिस दिन निस्पृह जिनदास उपवास करता, उस दिन …शुद्ध मन से आहार का त्याग करते। इससे सेठ को भी …बहुमान और अधिक स्नेह हुआ और वे भी भद्रक भाव वाले …से उपशांत हुए।

…ब एक दिन उस श्रावक के मित्र ने उससे पूछे बिना भंडी …की यात्रा में उनको अपनी गाड़ी में जोता। उसे विस्मय …कि–ऐसे बैल और किसी के नहीं हैं, इससे उसने भिन्न २ …गालों के साथ उन बैलों को बहुत सी बार दौड़ाये।

[illegible]

यहां आशय यह है कि — [illegible] पुत्र के समान श्रावक ने संविग्न और गीतार्थ गुरु से आगम सुनकर प्रवचन के अर्थ में कुशलता प्राप्त करना।

ऋषिभद्र-पुत्र की कथा इस प्रकार है।

इस जंबुद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र के मध्यम खंड में आलभिका नामक नगरी थी, जो कि कभी भी शत्रुओं से जीती नहीं गई थी, वहां सुगुरु के प्रसाद से बहुत से वचनों के अर्थ का ज्ञाता चतुर ऋषिभद्र-पुत्र नामक श्रावक था।

वहां दूसरे भी बहुत से श्रावक रहते थे, वे आपत्ति में भी धर्म में दृढ़ रहते थे। उन्होंने मिलकर एक समय ऋषिभद्र-पुत्र को पूछा कि—हे देवानुप्रिय! हमको तू देवताओं की स्थिति कह सुना, तब वह भी प्रवचन में कहे हुए अर्थ में कुशल होने से इस प्रकार बोला—

असुर, नाग, विद्युत्, सुवर्ण, अग्नि, वायु, स्तनित, उदधि, द्वीप, दिशा, इस प्रकार दश तरह के भवनपति हैं। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व ये आठ प्रकार के वाण व्यंतर हैं। चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पांच ज्योतिषक देव हैं।

वहां कल्पवासी इस प्रकार हैं—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लातंक, शुक्र, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत (ये बारह प्रकार के वैमानिक या कल्पवासी देव हैं)

कल्पातीत इस प्रकार हैं—

सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस्, सौमनस, प्रीतिकर और नंदिकर ये नव ग्रैवेयिक तथा विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान, इनमें जो देव हैं वे कल्पातीत हैं।

अब वहां अतुल भक्ति से आये हुए प्रवर इन्द्रों के समूह से नमित और स्वर्ण समान प्रभा वाले वीर स्वामी पधारे।

उन जगत्त्राता के चरणों को प्रणाम करने के लिये श्री प्रवचन की प्रभावना पूर्वक ऋषिभद्रपुत्र के साथ वे समस्त श्रावक वहां आये। वे तीन प्रदक्षिणा दे भक्तिपूर्वक भगवान को नमन करके उचित स्थान पर बैठे। तब जगद्गुरु उनको इस प्रकार धर्म सुनाने लगे।

हे भव्यों! अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर अज्ञान का नाश करने को मल्ल समान प्रवचन में कहे हुए अर्थ की कुशलता में निरन्तर उद्यम करो।

इस प्रकार धर्म सुन कर वे जगत्प्रभु को ऋषिभद्रपुत्र की कही हुई उक्त सब देवों की स्थिति कहने लगे। तब संशय रूप रज हरने को पवन समान स्वामी बोले कि-हे भद्रों! मैं भी इसी प्रकार देवस्थिति कहता हूँ। यह सुन कर वे (श्रावक) श्रुतार्थ में कुशलमति ऋषिभद्रपुत्र को खमा कर प्रभु को नमन करके अपने २ घर को आये। ऋषिभद्रपुत्र भी प्रभु को वंदना कर, प्रश्न पूछ अपने घर आया और श्रेष्ठ कमल के समान प्रभु भी अन्य स्थलों में भव्यों को सुवासित करने लगे।

इस प्रकार सम्यक् रीति से ऋषिभद्रपुत्र चिरकाल गृहि-धर्म पालन कर, मासभक्त करके सौधर्म देवलोक में देवता हुआ। वहां अरुणाभ विमान में चार पल्योपम तक सुख भोग कर, वहां से च्यव कर महाविदेह में उत्पन्न हो, प्रवचन में कुशल होकर मुक्ति को जावेगा।

इस प्रकार हे भव्यों! ऋषिभद्रपुत्र का चरित्र बराबर सुन कर भवताप हरनेवाले प्रवचन के अर्थों में कुशलबुद्धि होओ।

[illegible]

[illegible] की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार [illegible] और [illegible] में [illegible] गाथा कहते हैं।

उस्सग्गाववायाणं विसयविभागं वियाणइ ॥ ५३ ॥

मूल का अर्थ — उत्सर्ग और अपवाद के विषय विभाग [illegible] जाने।

टीका का अर्थ — जिन प्रवचन में प्रसिद्ध उत्सर्ग व अपवाद के विषय विभाग को याने करण प्रकार को विशेष कर जाने। सारांश यह कि — केवल उत्सर्ग व केवल अपवाद को न पकड़े, अचलपुर के श्रावकों के समान उनका अवसर जाने। क्योंकि कहा है कि — ऊंचे की अपेक्षा से नीचा कहलाता है और नीचे की अपेक्षा से ऊंचा कहलाता है, इस भांति अन्योन्य की अपेक्षा रखते उत्सर्ग और अपवाद दोनों समान हैं यह जान कर अवसर के अनुसार इन दोनों में स्वल्प व्यय और विशेष लाभ वाली प्रवृत्ति करे।

अचलपुर के श्रावकों की कथा इस प्रकार है।

अत्यन्त भद्रशाल (वन) वाले और प्रचुर सुमनस् (देव) वाले कनकाचल के समान अति सुन्दर साल (गढ़) वाली और प्रचुर सुमनस् (सज्जन) वाली अचलपुर नामक नगरी थी। वहां जिन प्रवचन की प्रभावना करने में तत्पर और उत्सर्गापवाद के ज्ञाता बहुत से महर्द्धिक श्रावक रहते थे।

वहां कन्ना और बिन्ना नदियों के बीच में बहुत से तापस रहते थे। उनमें एक तापस पादलेप में बहुत होशियार था। वह पग पर लेप लगा कर उसके बल से नित्य पानी पर स्थल के समान

लता था जिससे लोग विस्मित होते थे। उसे देख भारी मिथ्यात्व रूप ताप से तपे हुए मुग्ध-जन पाड़े के समान अन्य दर्शन रूप पंक में जटिलता से फंस गये। वे श्रावकों के सन्मुख बढ़ाई करने लगे कि-हमारे शासन में प्रत्यक्ष रीति से जैसा गुरु का प्रभाव दृष्टि में आता है वैसा तुम्हारे में नहीं। तब वे श्रावक इस भय से कि-कहीं मुग्ध-जनों को मिथ्यात्व में स्थिरता न हो जाय, उत्सर्ग मार्ग पकड़ कर उसे आंख से भी नहीं देखते थे।

अब वहां कुमत के प्रमोद रूप कैरव को मोडने में सूर्य समान वैरस्वामी के मामा श्री आर्यसमितसूरि का समागम हुआ। तब वे सर्व श्रावक धूमधाम से तुरन्त उनके सन्मुख आ पृथ्वी पर मस्तक नमा कर उनके चरणों को प्रणाम करने लगे। वे आंखों में अश्रु भर कर दीन वचन से अपने तीर्थ की ओर उक्त तापस का किया हुआ सम्पूर्ण तामसी असमंजस उनको कहने लगे।

तब गुरु बोले कि-हे श्रावकों! यह कपटी किसी पादलेप आदि उपाय से भोले लोगों को ठगता है। इस रंक तापस के पास तप की कुछ भी शक्ति नहीं। यह सुन वे गुरु को वंदना करके अपने घर आये। अब वे चतुर श्रावक अपवाद सेवन का समय जान कर उस तपस्वी को भोजन के लिये निमंत्रण करने लगे। वह तापस भी बहुत से लोगों के साथ एक श्रावक के घर आ पहुंचा। उसे देख कर वह समयज्ञ श्रावक सन्मुख उठ कर मान देने लगा। व उन्हें बैठा कर कहा कि-आपके चरण कमल धुल-वाओ क्योंकि महापुरुषों के सन्मुख अर्थी की प्रार्थना निष्फल नहीं होती।

तापस की इच्छा न होते भी गरम पानी से पग भिगो कर वह इस प्रकार धोने लगा कि वहां लेप की गंध भी न रही।

पश्चात् अति प्रीति से उसे भोजन कराया किन्तु उसे तो अ
होने वाली विगोपना के अत्यन्त भय से भोजन के स्वाद की
खबर नहीं पड़ी ।

अब जलस्तंभ देखने को उत्सुक हुए लोगों से परिवारित व
तापस भोजन करके पुनः नदी के कीनारे आ पहुँचा । उसने विचा
किया कि अभी भी लेप का कुछ अंश रहा होगा, यह सोच ज्यों
वह पानी में पैठा त्योंही बुड़ बुड़ करता डूबने लगा । तब उसके
डूब जाने पर लोग विचारने लगे कि—इस मायावी ने अपने को
आज तक कितना ठगा ? यह सोच मिथ्यात्वी लोग भी जिन
धर्मानुरागी हुए ।

अब उस समय नगर के लोग वहां ताली बजा २ कर तुमुल
मचाने लगे । इतने में वहां योग संयोग के ज्ञाता आर्यसमिताचार्य
पधारे । वे जिन शासन की प्रभावना करने के लिये नदी के मध्य
भाग में योग विशेष (अमुक द्रव्य) डाल कर लोगों के सन्मुख इस
प्रकार कहने लगे कि—

हे विन्ना नदी ! हम तेरे दूसरे किनारे जाना चाहते हैं, तब
शीघ्र ही उसके दोनों किनारे जैसे संध्या समय चिंचोड़े के दो
दल मिलते हैं उस भांति साथ मिल गये । तब महान् आनन्द से
परिपूर्ण चतुर्विध संघ के साथ श्री आर्यसमिताचार्य नदी के दूसरे
किनारे पहुँचे । तब ऐसे प्रभावशाली आचार्य को देख कर वे
सर्व तापस मिथ्यात्व का त्याग कर उनसे प्रव्रज्या लेने लगे । वे
तापस ब्रह्मद्वीप में रहते थे । अतः उनके वंश से ब्रह्मदीपक के
नाम से विद्वान साधु हुए । इस प्रकार कुमति के ताप का शमन
करने वाले, भव्य जन के मन और नेत्र रूप मोर को आनन्द
देने वाले वे नवीन मेघ के समान गुरु अन्य स्थल में विचरते

गो। वे श्रावक भी चिरकाल जिन-प्रवचन की प्रभावना करते हुए गृह-धर्म का पालन कर सुगति के भाजन हुए।

इस भांति उत्सर्ग और अपवाद में कुशल बुद्धिवाले, मिथ्यात्व रूप कक्ष को जलानेवाले, धर्म के लक्ष्य वाले, अति चतुर अचलपुर के श्रावक श्री तीर्थंकर के तीर्थ की स्वपरहितकारी प्रभावना करने को समर्थ हुए। अतएव हे भव्यों! तुम इसी में कुशलता धारण करो, जो कि विवेक रूप वृक्ष को बढ़ाने के लिये मेघ समान है।

इस प्रकार उत्सर्ग अपवाद रूप दोनों गुणों में अचलपुर के श्रावक समुदाय की कथा है।

इस प्रकार प्रवचन कुशल का उत्सर्ग-अपवाद रूप तीसरा और चौथा भेद कहा अब विधिसारानुष्ठान रूप पांचवां भेद का वर्णन करने के लिये आधी गाथा कहते हैं।

वहइ सइ पक्खवायं विहिसारे सव्वधम्मणुट्ठाणे।

मूल का अर्थ—विधि वाले सर्व धर्मानुष्ठान में सदैव पक्षपात धारण करते हैं।

टीका का अर्थ—विधिसार याने विधिप्रधान सर्व धर्मानुष्ठान, याने देव गुरु वन्दनादिक में सदैव पक्षपात याने बहुमान धारण करते हैं—इसका मतलब यह है कि अन्य विधि पालनेवालों का बहुमान करे और स्वयं आवश्यक सामग्री से यथाशक्ति विधि पूर्वक धर्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो। सामग्री न हो तो भी विधि आराधने के मनोरथ न छोड़े, इस तरह से भी वह आराधक होता है, ब्रह्मसेन सेठ के समान।

ब्रह्मसेन सेठ की कथा इस प्रकार है।

गंगा से सुशोभित नंदीवाली और वृषभ वाली शंभु की मूर्ति के समान यहां वैसी ही उत्तम वाराणसी नामक नगरी है। वहां

[illegible] नगर में [illegible] नामक वणिक था । उसकी [illegible] नामक स्त्री थी । वह एक समय नगर के बाहर गया । वहां उद्यान में [illegible] मुनि को देख कर उनको नमन कर हर्षित हुआ सेठ [illegible] ।

मुनि बोले कि हे भव्यो ! जब तक यह जीव हलता चलता है, तब तक आहार लेता है और कर्म उपार्जन करता है । जिससे यह जीव अनन्त दुस्सह दुःख सहन करता है । अतएव सुखेच्छु मनीषि पुरुष ने आहार वृद्धि का त्याग करना चाहिये ।

सेठ बोला कि–हे प्रभु ! यह तो अर्थ देखते अशक्य उपदेश है । मुनि बोले कि गृहस्थों के लिये पौषध व्रत है । वहां सर्व से अथवा देश से द्विविध त्रिविध रीति से आहार वर्जन, अंग सत्कार वर्जन, अब्रह्म वर्जन और व्यापार वर्जन करना चाहिये । जब तक भाग्यशाली श्रावक यह व्रत धारण करता है तब तक वह यति के आचार का पालक माना जाता है ।

यह सुन, इतने में कोई क्षेमंकर नामक श्रावक बोला कि– पौषध नाम के इस व्रत से मुझे काम नहीं । तब सेठ मुनि को नमन कर बोला कि यह श्रावक के कुल में जन्मा हुआ और स्वभाव से भद्रक है, तथापि इसे पौषध पर क्यों विरोध दीखता है ?

मुनि बोले कि–इस भव से तीसरे भव में कौशांबी नगरी में क्षेमदेव नामक एक वणिक था । तथा वहां जिनदेव और धनदेव नामक महान् ऋद्धिवन्त दो भाई थे । वे उत्तम श्रावक थे । अब जिनदेव कुटुम्ब का भार छोटे भाई को सौंप कर, पौषधशाला में विधिपूर्वक नित्य पौषध करता था । उसे एक दिन पौषध में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ । तब ज्ञान के उपयोग से जान कर अपने छोटे भाई को कहने लगा । हे वत्स ! तेरा अब केवल दश दिन

आयुष्य है, अतः हे भाई ! यथायोग्य सावधान होकर तू तेरा अर्थ साधन कर। तब धनदेव चैत्य में भारी पूजा कर निदान रहित मन से दीन-जनों को दान देकर संघ को खमा कर, अनशन ले स्वाध्याय ध्यान में तत्पर हो तृण के संथारे पर बैठा।

अब यहां क्षेमदेव बोल उठा कि-गृहस्थ तो ससंग होता है, अतः उसे ऐसा अवधिज्ञान कैसे हो सकता है ? किंतु जो यह बात सत्य होगी तो बहुत अच्छा होगा, याने कि-मैं भी ज्ञानभानु के उदय के हेतु उदयाचल समान पौषध ग्रहण करूंगा। अब उस दिन नमस्कार स्मरण करता हुआ धनदेव मर कर बारहमें देवलोक में इन्द्र सामानिक देव हुआ। उस समय समीपस्थ देवों ने संतुष्ट हो कर सुगंधित जल व फूल की वृष्टि कर उसके कलेवर की अपूर्व महिमा की। यह देख कुछ श्रद्धा रख कर क्षेमदेव भी धर्म की इच्छा से प्रायः पौषध किया करता था।

वह एक समय आषाढ़ चातुर्मास की पूर्णिमा को पौषध व्रत लेकर रात्रि को तप के ताप तथा भूख, प्यास से पीड़ित हो सोचने लगा कि हाय हाय ! भूख प्यास और घाम का कैसा दुःख है ? इस प्रकार पौषध को अतिचार लगा कर मर गया। वह व्यंतर में देवता होकर यह क्षेमंकर हुआ है और पूर्व में पौषध से मरा था इससे अब उसके नाम से डरता है।

यह सुन ब्रह्मसेन मुनि को नमन कर, पौषध व्रत ले, अपने को धन्य मानता हुआ घर आया। उसी समय से ब्रह्मसेठ ने सुख से आजिविका प्राप्त करते पौषध व्रत करते हुए कुछ काल व्यतीत किया।

एक समय उस नगर के राजा के अपुत्र मरने पर उस नगर दुश्मनों के विध्वंस करने से वह भला सेठ मगध देश में

किसी ग्राम में भाग्यवश आजिविका के लिये रहा। अब एक सम
चौमासी पर्व आजाने पर धर्मानुष्ठान करने को उत्सुक हो, व
सोचने लगा। अहो! मैं कैसा हीन पुण्य हूँ। मेरा भाग्य कै
टेढ़ा है? कि–जिससे मैं साधु श्रावक रहित स्थान में आकर र
हूँ। जो यहां जिन प्रतिमा होती तो आज मैं हर्ष से विधिपूर्व
द्रव्य और भाव से उसे वंदन करता। तथा यहां जो सब विषयों
निस्पृह गुरु होते तो मैं उनके चरणों में द्वादशावर्त्त वन्दना करता
यह सोच वह उत्तम बुद्धिमान् सेठ घर के कोने में बैठ कर, क
रूप व्याधि को हरने के लिये उत्तम औषध समान पौषध व्रत
जो कि स्वायत्त था करने लगा।

इतने में उसके घर नित्य क्रय विक्रय करने के बहाने कोई
दुष्टबुद्धिवाले चार पुरुष बैठते थे। जिससे उन्होंने जान लिया कि–
सेठ का अमुक समय पौषध करने का अवसर है। अब ब्रह्मसेन
सेठ भी ब्रह्मचर्य के साथ विधिपूर्वक समय पर सोया। उसके सो
जाने पर मध्यरात्रि के बाद वे मनुष्य उसके घर में सेंध लगा घुस
कर लूटने लगे। तब सेठ जाग कर घर लुटता हुआ देखकर भी
मेरु की भांति शुभ–ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगा। वह महान
संवेग से अपनी आत्मा को शिक्षा देने लगा कि–हे जीव! धन
धान्य आदि परिग्रह में सर्वथा मोह मत रख। क्योंकि–यह बाह्य
अनित्य, तुच्छ और महान् दुःख का देने वाला है। अतएव इससे
विपरीत जो धर्म है, उसमें दृढ़ चित्त रख।

इस प्रकार उस सेठ के मुख से आत्मा का शासन सुनकर
वे इस भांति भव को नाश करने वाली भावना का ध्यान करने
लगे। इस सेठ ही को धन्य है कि–जो अपने माल में भी निस्पृह
है, और हम मात्र अकेले अधन्य हैं कि–पराया माल हरने की
इच्छा करते हैं।

छेदन करने को परशु समान और सुधा समान उज्वल गुणवान श्रेणिक नामक राजा था।

इसके अभयकुमार नामक पुत्र था। वह आगम के अर्थ के परिज्ञान से विस्फुरित बुद्धि से युक्त था और जगत् को आनंद देने वाला था। वहां एक समय सद्धर्म को प्रगट करने वाले सुधर्मा नामक गणधर पांच सौ मुनियों के परिवार से पधारे।

उनके चरणों को वन्दन करने के लिये शासन की प्रभावना की इच्छा से श्रेणिक राजा परिवार सहित बड़ी धूमधाम से वहां गया। वैसे ही दूसरे नगर जन भी अनेक वाहनों पर चढ़कर भक्ति के बल से रोमांचित हो वहां आये।

ऐसी प्रभावना देखकर, वहां एक लकड़हारा था वह भी आकर गुरु को नमन कर इस भांति धर्म श्रवण करने लगा। जीवहिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांच पाप के हेतु हैं, अतएव हे भव्यों! तुम उनका त्याग करो। यह सुनकर राजा आदि पर्षदा नमन करके घर की ओर चली किन्तु वह आत्मार्थी लकड़हारा वहीं स्थिर होकर रहा। तब चित्त के ज्ञाता गुरु उसको कहने लगे कि-तेरा क्या विचार है? वह बोला कि-मैं इतना जानता हूँ कि-सदैव आपके चरणों की सेवा करना।

तब गुरु ने उसे दीक्षा देकर कुशल मुनियों को सौंपा। उन्होंने उसे शीघ्र ही आचार सिखाया।

वह एक समय गीतार्थ के साथ गोचरी को गया, तब उसकी पूर्वावस्था को जानने वाले नगर लोग उसे देखकर अहंकार से इस भांति बोलने लगे कि-देखो ये

और महामुनि इन्होंने अतुल ऋद्धि का त्याग किया है, इस भांति वक्रोक्ति से उसकी बारंबार हँसी करने लगे।

तब वह अभी नया होने से उक्त परीषह सहने में असमर्थ हुआ, तब प्रवचनवेत्ता सुधर्मा स्वामी ने उसे कहा कि–तुमे संयम में यथोचित समाधान है ? तब वह बोला कि–जो आप कृपा कर अन्य स्थल में विहार करें तो है।

गुरु बोले कि–तुझे समाधि की जावेगी, यह कह वे वहां आये हुए अभयकुमार को कहने लगे कि–हमारा यहां से विहार होगा।

अभय बोला कि–हे प्रभु ! एकाएक हम पर ऐसी अकृपा क्यों करते हो ? तब उन्होंने उक्त मुनि का परीषह कहा। अभय बोला कि–एक दिवस रहिये, उतने में जो वह नहीं हटे तो फिर न रहिये।

मुनि के यह बात स्वीकार कर लेने पर शासन की उन्नति [illegible] और [illegible] की महिमा करने वाला अभयकुमार [illegible] हो आया।

[illegible] कि आंगन में तीन करोड़ उत्तम रत्न [illegible] करवाये। पश्चात् पटह बजवाया ([illegible]) कि राजा [illegible] तीन करोड़ रत्न देता है [illegible] वे ले आओ।

[illegible] तीन करोड़ रत्न [illegible] आश्चर्य [illegible] हुए [illegible] यह बात है।

वेसा इव निहवासं पालइ ** सत्तरसपयनिबद्धं तु ।
भावगय भावसावग-लक्खणमेयं समासेणं ॥ ५९ ॥

मूल का अर्थ—स्त्री, इन्द्रिय, अर्थ, संसार, विषय, आरंभ, घर, दर्शन, गड्डरिप्रवाह, आगमपुरस्सरप्रवृत्ति, यथाशक्ति दानादिक की प्रवृत्ति, विधि, अरक्तद्विष्ट, मध्यस्थ, असंबद्ध, परार्थकामोपभोगी और वेश्या समान गृहवास का पालने वाला, इस तरह सत्रह पद से समास करके भावश्रावक के भावगत लक्षण हैं। ५७-५८-५९

इन गाथाओं की व्याख्या—

स्त्री, इन्द्रियां, अर्थ, संसार, विषय, आरंभ, गेह तथा दर्शन इनका द्वन्द है, पश्चात् उस पर तस्, प्रत्यय लगाया हुआ है, अतः इन विषयों में भाव श्रावक का भावगत लक्षण होता है।

इस प्रकार तीसरी गाथा में जोड़ने का सो. तथा गड्डरिका प्रवाह संबंधी तथा पुरस्सर आगम प्रवृत्ति इस पद में प्राकृतपन से तथा छंद भंग के भय से पद आगे पीछे रखे हैं, उनका अन्वय करने से आगम पुरस्सर प्रवृत्ति अर्थात् धर्म कार्य में वर्तन, यह भी लिंग है, तथा दानादिक में यथाशक्ति प्रवृत्त होना क्योंकि वैसे चिन्ह वाला पुरुष धर्मानुष्ठान करने में शरमाता नहीं, तथा सांसारिक बातों में अरक्तद्विष्ट हो धर्म विचार में मध्यस्थ हो जिससे राग द्वेष में बाध्य नहीं होता, असंबद्ध याने धन स्वजनादिक में प्रतिबंध रहित हो, परार्थ कामोपभोगी हो, याने दूसरे के हेतु अर्थात् उपरोध से काम याने — और रूप तथा उपभोग याने गंध, रस, स्पर्श में प्रवृत्ति हो, वैसे ही वेश्या याने पण्यांगना जैसे

असमय घर में आता जाता देख कर क्रोध से लाल नेत्र कर मैना वक्र शब्द से कल कलाहट करने लगी।

वह बोली कि-मेरे सेठ के घर यह कौन निर्लज्ज असमय आता है? क्या वह सेठ से डरता नहीं? क्या उसके दिन पूरे हो गये हैं। तब उसे तोता क्षीर समान वचनों से कहने लगा कि-हे मैना! तू बिलकुल मौन रह जो वज्रा को प्यारा है वही अपना सेठ है।

तब मैना उसे कहने लगी कि-हे पापिष्ठ! तू अपने जीवन में तृष्णावाला है, स्वामी के घर में अकार्य करने वाले की भी क्यों प्रशंसा करता है?

वह बोला कि-तुझे मार डालेंगे, तो भी मैना चुप न हुई; अतएव उसके कोमल कंठ को उसने पैर से कुचल डाला। इतने में एक समय उस घर में भिक्षा के लिये दो मुनि घुसे, उनमें बड़ा मुनि सामुद्रिक का ज्ञाता होने से छोटे मुनि को कहने लगा कि-

इस श्रेष्ठ मुर्गे का सिर जो खावेगा वह राजा होगा, यह बात छिप कर खड़े हुए बटुक ने सुनी। तब वह वज्रा को कहने लगा कि-मुझे शीघ्र ही मुर्गे का मांस दे, तब वह बोली कि-दूसरे मुर्गे का मांस ला देती हूँ तब वह बोला कि-वह मुझे नहीं चाहिये।

तब महान् पाप के भार से दबी हुई वज्रा ने प्रातःकाल उस चरणायुध (मुर्गे) को मारकर उसका मांस पकाया। उसे तत्व की खबर नहीं थी, इससे उसने उस मुर्गे के सिर का मांस लेखशाला से आकर खाने के लिये रोते हुए पुत्र ही को दे दिया।

करनी है जैसे गुरुवाक्य का पालन करे, याने इसको आज या कल छोड़ना है, ऐसा सोचता हुआ रहे, इस प्रकार सप्तम पद में बांधा हुआ भावश्रावक का भावगत लक्षण समास द्वारा याने सूचना मात्र से है, इस प्रकार तीन गाथा का अक्षरार्थ है।

अब जैसा उद्देश हो वैसा ही निर्देश होता है, इस न्याय से पहिले स्त्री रूप भेद का वर्णन करते हैं।

इत्थिं अणत्थभवणं चलचित्तं नरयवत्तणीभूयं।
जाणंतो हियकामी वसवत्ती होइ नहु तीसे ॥ ६० ॥

मूल का अर्थ—स्त्री को अनर्थ की खानि, चंचल और नरक के मार्ग समान जानता हुआ हितकामी पुरुष उसके वश में नहीं होता।

टीका का अर्थ—स्त्री को कुशीलता नृशंसता आदि दोष की भवन याने उत्पत्ति स्थान (खानि) तथा अन्य अन्य को चाहने वाली होने से चलचित्त तथा नरक की वर्त्तनीभूत अर्थात् मार्ग समान जानता हुआ हितकामी याने श्रेयका अभिलाषी पुरुष वशवर्त्ती याने उसके आधीन कदापि न हो, काष्ट सेठ के समान।

काष्टसेठ की कथा इस प्रकार है।

राजगृह नगर रूप मलयाचल में सुरभि गुणयुक्त चंदन काष्ट के समान काष्ट सेठ रहता था और उसकी वज्रा नामक स्त्री थी। उसके सागरदत्त नामक पुत्र था, मदना नामक सुन्दर मैना थी, तुंडिक नामक तोता था, और एक सुलक्षण मुर्गा था।

अब एक समय सेठ अपनी स्त्री को घर सम्हालकर व्यापार के हेतु विदेश गया, उस समय वह स्त्री कुञ्ज नामक बटुक के साथ मर्यादा त्याग कर वर्त्ताव करने लगी। उस बटुक को समय

असमय घर में आता जाता देख कर क्रोध से लाल नेत्र कर मैना उच्च शब्द से कल कलाहट करने लगी।

वह बोली कि-मेरे सेठ के घर यह कौन निर्लज्ज असमय आता है? क्या वह सेठ से डरता नहीं? क्या उसके दिन पूरे हो गये हैं। तब उसे तोता क्षीर समान वचनों से कहने लगा कि-हे मैना! तू बिलकुल मौन रह जो वज्रा को प्यारा है वही अपना सेठ है।

तब मैना उसे कहने लगी कि-हे पापिष्ठ! तू अपने जीवन में तृष्णावाला है, स्वामी के घर में अकार्य करने वाले की भी क्यों प्रशंसा करता है?

वह बोला कि-तुझे मार डालेंगे, तो भी मैना चुप न हुई, अतएव उसके कोमल कंठ को उसने पैर से कुचल डाला। इतने में एक समय उस घर में भिक्षा के लिये दो मुनि घुसे, उनमें बड़ा मुनि सामुद्रिक का ज्ञाता होने से छोटे मुनि को कहने लगा कि-

इस श्रेष्ठ मुर्गे का सिर जो खावेगा वह राजा होगा, यह बात छिप कर खड़े हुए वटुक ने सुनी। तब वह वज्रा को कहने लगा कि-मुझे शीघ्र ही मुर्गे का मांस दे, तब वह बोली कि-दूसरे मुर्गे का मांस ला देती हूँ तब वह बोला कि-वह मुझे नहीं चाहिये।

तब महान् पाप के भार से दबी हुई वज्रा ने प्रातःकाल उस चरणायुध (मुर्गे) को मारकर उसका मांस पकाया। उसे तत्व की खबर नहीं थी, इससे उसने उस मुर्गे के सिर का मांस लेखशाला से आकर खाने के लिये रोते हुए पुत्र ही को दे दिया।

वह खाकर चला गया, इतने में शीघ्र ही वटुक वहां आया वह उक्त मांस खाने लगा, किन्तु उसमें मांजरी नहीं देखकर वज्रा को पूछने लगा कि–मांजरी का मांस कहां है ? वज्रा बोली कि–वह तो पुत्र को दे दिया, तब वह बोला कि–जो मेरा काम हो तो पुत्र को भी मार डाल।

तब उस दुर्गति गामिनी, सुगतिपुर जाने के मार्ग में चलने को पंगु हुई, अविवेक की भूमिका और कामवाण से विद्ध हुई। और लज्जा-मर्यादा-विहीन वज्रा ने यह भी स्वीकार किया, यह बात सागरदत्त की धाय माता ने सुनी।

जिससे वह उसे कमर पर उठाकर चंपापुरी में भाग आई, वहां उस समय राजा अपुत्र मर गया था जिससे पंच दिव्य किये गए। उन दिव्यों से संपूर्ण पुण्य के उदय से सागरदत्त राज्य पर अभिषिक्त हुआ, वह बड़े २ सामंतों से नमन कराता हुआ स्वस्थता से राज्य पालन करने लगा।

वह धाय माता द्वारा कमर पर लाया गया था इससे वह धात्रीवाहन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इधर कामासक्त वज्रा ने घर का सार उड़ा देने से सब नौकर चाकर सीदाते हुए इधर उधर लग गये।

इतने में काष्ट सेठ बहुत सा द्रव्य उपार्जन करके अपने घर आया, वह घर की दशा देख विस्मित हो वज्रा को पूछने लगा कि–हे प्रिया ! पुत्र कहां है ? धाय कहां है ? वह मैना कहां है ? धन कहां है ? वह मुर्गा कहां है ? और नौकर चाकर कहां हैं ?

ऐसा पूछने पर भी उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तब कष्ट से काष्टपिंजर में बंद तोते से उसने पूछा। तब उसने अपनी

लाठी का कपड़ा जलाकर उसे खूब डराया, तब वह श्रेष्ठ बुद्धि तोता कांपता कांपता सेठ को कहने लगा —

हे तात ! आप मुझे बार बार पूछते हो, अतः मैं बाघ और खाई के बीच में पड़ा हूँ, अतएव क्या करूं ? तब सेठ ने उसे पींजरे से निकाल दिया, तब वह घर के आंगन में खड़े हुए ऊंचे वृक्ष के शिखर पर बैठ कर, सब पूर्ववृत्तान्त जो कुछ वह जानता था वह कह गया।

पश्चात् सेठ को नमन करके वह अपने इच्छानुसार स्थान को उड़ गया, अब सेठ उनका चरित्र सुनकर, मन में इस प्रकार विचार करने लगा —

स्त्रियों का अस्थिर प्रेम देखो ! चंचलता देखो, निर्दयता देखो, चालाकी देखो और कपट देखो !

तथा स्त्रियां मछलियों को पकड़ने की मजबूत जाल के समान, हाथी को पकड़ने के फंदे समान, हिरणों को पकड़ने को चारों ओर बिछाई हुई वागुरा के समान और इच्छानुसार भ्रमण करने वाले पक्षियों को पकड़ने को बनाये हुए खटके के समान इस संसार में विवेक रहित को बंधन के लिये हैं।

स्नेह (तेल) से भरी हुई, सकज्जलगा (काजल उत्पन्न करने वाली), स्नेह (तेल) को क्षय करने वाली, कलुष और मलीन करने वाली दीपशिखा के समान स्नेह (प्रीति) से पाली हुई, स्वकार्यलग्न (स्वार्थी) स्नेह का क्षय करने वाली, कलुष और मलीन करने वाली महिला है, अतः उसको त्याग दो।

जल (पानी) वाली, दुरंत, द्विपक्ष का क्षय करने वाली, दूराकार (टेढ़ी बांकी), विषम पथ वाली और नीचगामिनी

(नीचे चलने वाली) नदी के समान महिला भी जड़ को पकड़ने वाली हुई, फिर [illegible] पर्वों का नाश करने वाली, दुराचारिणी, विषम मार्ग में नीच के साथ चलने वाली है अतएव उसका त्याग करो।

इस प्रकार बराबर सोचकर उसने सम्पूर्ण धन धर्ममार्ग में देकर कर्मरूप गिरि को तोड़ने के लिये वज्र समान दीक्षा ग्रहण की।

अब वघा भी राजा के भय से भागकर बटुक के साथ चंपा में आकर रहने लगा क्योंकि उसका पुत्र वहां का राजा है ऐसी उसको खबर नहीं था। अब काष्ट मुनि महान् तप में परायण रहकर गीतार्थ हो एकाएक विचरते हुए किसी समय चंपा में आये।

वहां वे भिक्षार्थ घर घर भ्रमण करते हुए वघा के घर में आये, उसने जान लिया कि—यह मेरा पति है।

अतएव यह लोगों में मेरे दोष अवश्य कह देगा, तो मैं ऐसा करूं कि—जिससे इसका शीघ्र देश निकाला हो।

जिससे उसने सोना सहित मंडक (मांडो आदि) उनको दिये, उन्होंने सहसा ले लिये, तब उसने चोर २ करके चिल्लाया।

जिससे कोतवाल ने वहां आकर उनको पकड़ा व राजमंदिर में लाया उन्हें सहसा धाय ने देख लिया और पहिचान लिया।

जिससे वह उनके चरणों में गिरकर सिसक सिसक कर रोने लगी, तब राजा ने कहा कि—हे अंबा! तू अकारण क्यों रोती है? तब वह गद्गद् स्वर से कहने लगी कि—ये तेरे पिता हैं और इन्होंने दीक्षा ले ली है, इनको मैंने बहुत समय में देखा इसलिये हे वत्स! मैं रोती हूँ।

तब राजा ने उन्हें घर में बुला कर, आसन पर बैठा कर कहा कि—आप यह राज्य लीजिए, मैं आपका किंकर हूँ। तब साधु बोले कि—हे नरवर! हम निःस्पृह और निसंग हैं अतः हमको पाप कर्म से भरपूर राज्य का क्या काम है?

अतएव तू भी सुरनर और मोक्ष की लक्ष्मी संपादन कर देने में समर्थ जिनधर्म का यथाशक्ति पालन कर।

यह सुनकर नरेन्द्र ने प्रसन्न हो काष्ट मुनि से निर्मल सम्यक्त्व के साथ गृहिधर्म स्वीकार किया। यह वृत्तान्त सुनकर व्रजा को मानो वज्र का घाव लगा, जिससे वह राजा के भय से भयातुर हो वटुक के साथ भाग गई।

पश्चात् राजा की प्रार्थना से मुनि वहीं चातुर्मास रहे और बहुत से लोगों को प्रतिबोधित कर अनेक प्रकार से प्रवचन की प्रभावना करने लगे।

वे तप द्वारा अज्ञानी मनुष्यों को भी चमत्कृत करते हुए चिरकाल तक निर्मल व्रत पालन कर सुगति को गए। इस प्रकार काष्टश्रेष्टि का अवंचक पन तथा वैराग्य पूर्ण शुद्ध वृत्तान्त सुनकर हे भव्यजनों! तुम सर्व दोषों की खानि स्त्रीयों के वश में मत होओ।

इस प्रकार काष्टसेठ की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार सत्रह भेदों में स्त्री रूप प्रथम भेद कहा अब इन्द्रिय नामक दूसरे भेद की व्याख्या करते हैं—

इंदियचवलतुरंगे दुग्गइमग्गाणुधाविरे निच्चं।
भाविय भवस्सरूवो रुंभइ सन्नाणरस्सीहिं ॥

वाला याने बारंबार आलोचना करने वाला पुरुष ज्ञानरूप रस्सियों से रोक रखता है, विजय कुमार के समान।

विजयकुमार की कथा इस प्रकार है—

गुणवृद्धि और निषेध रहित, गुरु-लाघव युक्त वर्णन्यास से परिमुक्त ऐसी अपूर्व लक्षणवृत्ति (व्याकरण वृत्ति) के समान गुण की वृद्धि की रुकावट से निराली और गुरुलघु (छोटे बड़े) वर्णों के नाश से परिमुक्त कुणाला नामक नगरी थी।

वहां सकल शत्रुओं का नाश करने वाला आहवमल्ल नामक राजा था, उसकी अपने मुख से कमल की लक्ष्मी को जीतने वाली कमल श्री नामक रानी थी।

उनके विजयकुमार नामक पुत्र था, वह अपनी शक्ति से सहज में कार्तिकस्वामी कुमार को भी हलका करता था, अपने रूप से कामदेव को जीतने वाला था और सकल इन्द्रियों के विकार को रोकने वाला था।

वह बाल्यावस्था ही से रूपवान होने से उसको पुत्रार्थी विद्याधर हरण करके वैताढ्य की सुरम्य नगरी में लाया।

वहां अमिततेज नामक विद्याधर ने उसे अपनी रत्नावली [illegible] को दिया अतः उसने प्रसन्न हो पुत्रवत स्वीकार किया।

पश्चात् वह यत्न पूर्वक पाला गया और वह सर्व कलाएं सीख कर क्रमशः [illegible] यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। [illegible] ज्ञान रूप उत्तम रत्न का हरण हो जाने [illegible] उसको एकान्त में इस प्रकार कहने लगी —

हे कुमार! तू कमलश्री व आहवमल्ल राजा का पुत्र है और

तुझे कुणालापुरी से मेरा अपुत्र पति यहां लाया है। इसलिये तूं अपना यह सौभाग्य, रूप तथा यौवन मेरे साथ संगम करके सफल कर, ताकि मैं तुझे सर्व विद्याएं दूं। जिससे तूं इस सुरम्य नगरी में विद्याधरों का चक्रवर्ती होकर, राज्य-श्री का भोग करेगा, और मेरे साथ विषयसुख भी भोगेगा।

इस प्रकार उसका कान के सुख को हरने के लिये वज्रनिपात समान वचन सुनकर विजयकुमार मन में इस भांति विचार करने लगा-इसने अभी तक मुझे पुत्रवत् पालन करके ऐसा अकार्य विचारा, अतः स्त्री के स्वभाव को धिक्कार हो।

तो भी इस समय इसके पास से विद्याएँ ले लूं, यह सोच उसने कहा कि-मुझे विद्याएं दे। उसने मतिहीन हो उसको विद्याएँ देदीं, तब कुमार कहने लगा कि-हे माता! अभी तक मैंने तुझे मातृवत् माना है अतः मैं तुझे प्रणाम करता हूँ।

तथा तेरे प्रसाद से मैंने विद्याएं जानी हैं, अतएव आज से तो तूं विशेषकर मेरी गुरु समान है। अतएव हे माता! यह दुश्चिन्त्य असंभव दुश्चरित जब तक पिता न जाने तब तक तूं इस पाप से अलग होजा।

कुमार का इस प्रकार निश्चय जानकर वह क्रुद्ध होकर बोली कि-हे पुत्र! तूं कामासक्त होकर मुझे प्रार्थना मत कर, कारण कि तूं पुत्र है।

अथवा इसमें तेरा दोष नहीं है, जाति और रूप ही तेरे आवरण हैं, तूं कोई अकुलीन है, जिनको जन्म न दिया वे पुत्र हो ही कैसे सकते हैं? ऐसे उसके वचन से अति विस्मित हो कुमार ने सोचा कि-कामासक्त स्त्री कपट से क्या नहीं करती?

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] करते [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] से रोक रखता है, विजयकुमार के समान।

विजयकुमार की कथा इस प्रकार है —

[illegible] और विशेष [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] से परिपूर्ण ऐसी [illegible] (व्याकरण नीति) के समान गुण की वृद्धि को [illegible] से दिखाने और [illegible] (छोटे बड़े) वर्णों के नाश से परिपूर्ण [illegible] नामक नगरी थी।

वहां सकल शत्रुओं का नाश करने वाला आहवमल्ल नामक राजा था, उसकी अपने मुख से कमल की लक्ष्मी को जीतने वाली कमल श्री नामक रानी थी।

उनके विजयकुमार नामक पुत्र था, वह अपनी शक्ति से सहज में कार्तिकस्वामी कुमार को भी हलका करता था, अपने रूप से कामदेव को जीतने वाला था और सकल इन्द्रियों के विकार को रोकने वाला था।

वह बाल्यावस्था ही से रूपवान होने से उसको पुत्रार्थी विद्याधर हरण करके वैताढ्य की सुरम्य नगरी में लाया।

उक्त अमिततेज नामक विद्याधर ने उसे अपनी रत्नावली देवी को दिया अतः उसने प्रसन्न हो पुत्रवत स्वीकार किया।

पश्चात् वह सुख पूर्वक पाला गया और वह सर्व कलाएं सीख कर क्रमशः सौभाग्यशाली यौवनावस्था को प्राप्त हुआ। उसे देख कर इन्द्रिय रूप तस्करों से ज्ञान रूप उत्तम रत्न का हरण हो जाने से रत्नावली उसको एकान्त में इस प्रकार कहने लगी —

हे सुभग ! तू कमलश्री व आहवमल्ल राजा का पुत्र है और

तुझे कुणालापुरी से मेरा अपुत्र पति यहां लाया है । इसलिये तू अपना यह सौभाग्य, रूप तथा यौवन मेरे साथ संगम करके सफल कर, ताकि मैं तुझे सर्व विद्याएं दूं । जिससे तूं इस सुरम्य नगरी में विद्याधरों का चक्रवर्ती होकर, राज्य-श्री का भोग करेगा, और मेरे साथ विषयसुख भी भोगेगा ।

इस प्रकार उसका कान के सुख को हरने के लिये वज्रनिपात समान वचन सुनकर विजयकुमार मन में इस भांति विचार करने लगा—इसने अभी तक मुझे पुत्रवत् पालन करके ऐसा अकार्य विचारा, अतः स्त्री के स्वभाव को धिक्कार हो ।

तो भी इस समय इसके पास से विद्याएँ ले लूं, यह सोच उसने कहा कि—मुझे विद्याएं दे । उसने मतिहीन हो उसको विद्याएँ देदीं, तब कुमार कहने लगा कि—हे माता ! अभी तक मैंने तुझे मातृवत् माना है अतः मैं तुझे प्रणाम करता हूँ ।

तथा तेरे प्रसाद से मैंने विद्याएं जानी हैं, अतएव आज से तो तूं विशेषकर मेरी गुरु समान है । अतएव हे माता ! यह दुश्चिन्त्य असंभव दुश्चरित जब तक पिता न जाने तब तक तूं इस पाप से अलग होजा ।

कुमार का इस प्रकार निश्चय जानकर वह क्रुद्ध होकर बोली कि—हे पुत्र ! तूं कामासक्त होकर मुझे प्रार्थना मत कर, कारण कि तूं पुत्र है ।

अथवा इसमें तेरा दोष नहीं है, जाति और रूप ही तेरे आवरण हैं, तूं कोई अकुलीन है, जिनको जन्म न दिया वे पुत्र हो ही कैसे सकते हैं ? ऐसे उसके वचन से अति विस्मित हो कुमार ने सोचा कि-कामासक्त स्त्री कपट से क्या नहीं करती ?

सका पिता भी हर्षित हो कुमार को प्रारंभ से लेकर
त पूछने लगा, तब कुमार ने उसे सकल वृत्तान्त कह
। इतने में वहां एक दूत आया। उसने आह्मल्ल को
कि-आपको अयोध्या नगरी में जयवर्म राजा शीघ्र ही
ी सेवा के लिये बुलाते हैं। दूत का वचन सुनकर
कुमार कहने लगा कि-अरे! इस भारतवर्ष में हमारा
दूसरा स्वामी हो सकता है क्या?

तब कुमार को राजा कहने लगा कि-हे वत्स! वह राजा
ना सदैव से स्वामी है, और वह अपना मान्यमों, सुमित्र
र विशेषकर अपनी ओर ठीक कृपा रखता है। अतः तुझे
वश्य वहां जाना चाहिये, और तू चिरकाल में आया है,
त तेरी माता के पास रह जिससे कि-वह प्रसन्न रहे।

तब जैसे तैसे समझाकर कुमार पिता की आज्ञा लेकर,
ड़े ही दिनों में वहां हाथी, रथ तथा पैदलों के साथ आ
हुंचा। वहां अवसर पाकर कुमार ने अपने परिजनों के साथ
ाजसभा में आकर उस राजा को नमन किया, जिससे उसे
भली भांति सन्मान मिला। पश्चात् उसके विज्ञान, कला,
लावण्य, रूप, नीति, उदारता और पराक्रम आदि गुणों से उस
नगरी में उसका निर्मल यश फैला।

इतने में उस सभा में राजा जयवर्म की पुत्री शीलवती
अपने पिता को प्रणाम करने के लिये बहुत से परिवार के साथ
आई। वह ताक कर कुमार को देखने लगी, जिससे कवि...
उस पर हंसने लगी, व वह पिता की गोद में बैठकर अपने...
... गई।

दिया तब जिगी ने उसे कुए में गिरा दिया, वह जाकर नीचे के तल में गिरा। तब उक्त वणिक ने उसे कहा कि–गोह की पूंछ पकड़ कर तूं ऊपर जा। जिससे वह वैसा ही करके नवकार मंत्र स्मरण करता हुआ ऊपर आया।

अब वह ज्योंही पर्वत की कन्दरा में से बाहर निकला, त्योंही एक पाड़ा उसके सन्मुख दौड़ा, जिससे वह शिला पर चढ़ गया। इतने में वहां एक अजगर निकला। वह पाड़े के साथ लड़ने लगा। इतने में मौका देखकर चारुदत्त वहां से भाग निकला। अब उसे एक समय रुद्रदत्त नामक मामा का पुत्र मिला। वे दोनों जने अलक्तक आदि माल लेकर, सुवर्ण भूमि की ओर चले और वेगवती नदी उतरकर पर्वत की शिखर पर पहुँचे। वहां से चित्रवन में आये। वहां उन्होंने दो बकरे खरीदे व उन पर चढ़कर उन्होंने बहुतसा मार्ग व्यतीत किया।

इतने में रुद्रदत्त ने कहा कि–यहां से आगे की भूमि ठीक नहीं है। अतः इन बकरों को मार कर उनका चमड़ा निकाल-कर उसमें घुस जाना चाहिये। ताकि मांस की भ्रांति से अपने को भारंड पक्षी उठा ले जावेंगे। जिससे हम सुखपूर्वक सुवर्ण-भूमि में पहुंच जावेंगे। तब चारुदत्त उनको कहने लगा कि–जिन्होंने हमको विषमभूमि से पार किया, वे बकरे तो अपने हितकारक होने से सहोदर भाई के समान हैं, उन्हें कैसे मारें?

रुद्रदत्त बोला कि—तूं कोई इनका मालिक नहीं है, जिससे उसने पहिले एक को मारा, और फिर दूसरे को मारने लगा, तब वह बकरा चंचल नेत्रों से चारुदत्त की ओर देखने लगा। तब चारुदत्त उसे कहने लगा कि—तूं बचाया नहीं जा सकता है

को चला गया और विद्याधर भी उसे नमन करके अपने स्थान को गये । अब सर्वार्थ मामा, मित्रवती तथा वसंतसेना आदि सब उससे मिले और उसकी निर्मल कीर्ति होने लगी । और उसने अर्थ को अनर्थ का घर जान कर विशुद्ध मन से परिग्रह परिमाण सहित गृहि-धर्म अंगीकृत किया । पश्चात् यथोचित रीति से अपना सम्पूर्ण द्रव्य सात क्षेत्रों में व्यय करके मोह व मत्सर से रहित हो चारुदत्त सुगति को गया।

इस प्रकार चारुदत्त का वृत्तान्त सुनकर हे शिष्यजनों ! तुम सदा संतोष की पुष्टि करो, परन्तु अनर्थ और क्लेश युक्त मन में, धर्म में क्षोभ कराने वाले लोभ को मत धारण करो।

इस प्रकार चारुदत्त का दृष्टांत पूर्ण हुआ।

यह सत्रह भेदों में का तीसरा भेद कहा । अब संसाररूप चौथे भेद का वर्णन करते हैं।

दुहरूवं दुक्खफलं दुहाणुबंधिं विडंबणारूवं ।
संसारमसारं जाणिऊण न रइं तहिं कुणइ ॥ [illegible] ॥

मूल का अर्थ — संसार को दुःखरूप, दुःखफल, दुःखानुबंधी, विडंबनारूप और असार जानकर उसमें रति न करे।

टीका का अर्थ — [illegible]

इस प्रकार [illegible] पन्द्रहवां भेद कहा। अब निर्लज्जता रूप सोलहवें भेद का वर्णन करते हैं।

हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं ।
सम्मं समायरंतो-न वि लज्जइ मुद्धहसिओ वि ॥७१॥

मूल का अर्थ—चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ हितकारी निर्दोष क्रिया पाकर उसका आचरण करता हुआ मुग्ध जनों के हंसने से लज्जित न हो।

टीका का अर्थ—हित याने इसभव तथा परभव में फायदा करने वाला और अनवद्य याने निष्पाप चैत्यवंदन-जिनपूजा आदि क्रिया को सम्यक् रीति से अर्थात् गुरु की कही हुई विधि से समाचरता हुआ याने यथारीति सेवन करता हुआ शरमावे नहीं, यह मूल बात है। क्रिया कैसी सो कहते हैं—चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ याने कष्ट से प्राप्त हो ऐसी है, उसे पाकर याने प्राप्त करके मुग्ध अज्ञानी लोग हंसे तो भी लज्जित न हो—इस के समान।

दत्त की कथा इस प्रकार है।

विश्वपुरी नामक नगरी थी। वह इतनी सुन्दर थी कि-उसे दयिता के समान तरंग रूपी बाहुओं से समुद्र सदा आलिंगन करता था। वहां दुश्मनों का अप्रिय करने वाला प्रियंकर नामक राजा था, तथा वहां अतुल ऋद्धि वाला दत्त नामक सांयात्रिक (जहाजी) वणिक था।

वह एक समय नौका (जहाज) में माल भरकर जंबुद्वीप में आया। वहां बहुतसा द्रव्य उपार्जन करके ज्योंही वह अपने नगर की ओर रवाना हुआ त्योंही प्रतिकूल पवन के सपाटे से उसकी नौका (जहाज) टूट गई। तब वह एक पटिये द्वारा समुद्र पार करके किसी भांति अपने घर आया।

समुद्र में गया हुआ समुद्र ही में से पीछा मिलता है। यह सोचकर वह पुनः घर में जो कुछ था वह जहाज में भर कर रवाना हुआ। पुनः जब वह पीछा फिरा तब दुर्भाग्य वश उसका जहाज टूट गया। तब दुःखी होकर फक्त शरीर लेकर घर आया। इतने पर भी वह पुरुषाकार को न छोडकर पुनः समुद्र यात्रा करने की इच्छा करने लगा किन्तु उसके अत्यंत निर्धन हो जाने से उसे किसी ने पूंजी उधार न दी। तब वह अति विपन्न और खिन्न हुआ, जिससे उसकी भूख तथा नींद जाती रही व वह दीन होकर विचार करता था। इतने में उसे पिता का वचन याद आया।

वह वचन यह था कि-हे पुत्र ! जो किसी भी प्रकार तेरे पास पैसा न हो तो मजबूत मध्य भाग वाले लकड़ी के डब्बे में तांबे के करंडिये के अंदर मेरा रखा हुआ पट्टक (लेख) देखना, और जो कुछ उसमें लिखा है उसे कहीं प्रकाशित मत करना

ग्रहण की। वे मुनीश्वर सकल जीवों को अभयदान देते रहकर चिरकाल तक निरतिचार व्रत पालन करके मोक्ष को पहुँचे।

इस प्रकार तीनों लोक को विस्मित करने वाला चन्द्रोदर राजा का चरित्र सुनकर हे भव्यों! तुम जिनभाषित दानादिक चार प्रकार के धर्म में प्रयत्न धारण करो।

इस प्रकार चन्द्रोदर राजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में दानादि चतुर्विध धर्मप्रवर्त्तनरूप ग्यारहवां भेद कहा। अब विह्नीकरूप बारहवें भेद का वर्णन करते हैं।

हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुलहं लहिउं।
सम्मं समायरन्तो-नय लज्जइ मुद्धहसिओ वि ॥७१॥

मूल का अर्थ—चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ हितकारी निर्दोष क्रिया पाकर उसका आचरण करता हुआ मुग्ध जनों के हँसने से लज्जित न हो।

टीका का अर्थ—हित याने इसभव तथा परभव में फायदा करने वाला और अनवद्य याने निष्पाप षडावश्यक-जिनपूजा आदि क्रिया को सम्यक् रीति से अर्थात् गुरु की कही हुई विधि से समाचरता हुआ याने यथारीति सेवन करता हुआ शरमावे नहीं, यह कुछ बात है। क्रिया कैसी सो कहते हैं—चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ याने कष्ट से प्राप्त हो ऐसी है, उसे पाकर याने प्राप्त करके मुग्ध अज्ञानी लोग हँसे तो भी लज्जित न हो—इस [illegible]।

दत्त की कथा इस प्रकार है।

विश्वपुरी नामक नगरी थी। वह इतनी सुन्दर थी कि— दयिता के समान तरंग रूपी बाहुओं से समुद्र सदा आलिंगन करता था। वहां दुश्मनों का अप्रिय करने वाला प्रियंकर नामक राजा था, तथा वहां अतुल ऋद्धि वाला दत्त नामक सांयात्रिक (जहाजी) वणिक था।

वह एक समय नौका (जहाज) में माल भरकर कंबुद्वीप आया। वहां बहुतसा द्रव्य उपार्जन करके ज्योंही वह अपने नगर की ओर रवाना हुआ त्योंही प्रतिकूल पवन के सपाटे से उसकी नौका (जहाज) टूट गई। तब वह एक पटिये द्वारा समुद्र पार करके किसी भांति अपने घर आया।

समुद्र में गया हुआ समुद्र ही में से पीछा मिलता है। यह सोचकर वह पुनः घर में जो कुछ था वह जहाज में भर कर रवाना हुआ। पुनः जब वह पीछा फिरा तब दुर्भाग्य वश उसका जहाज टूट गया। तब दुःखी होकर फक्त शरीर लेकर घर आया। इतने पर भी वह पुरुषाकार को न छोड़कर पुनः समुद्र यात्रा करने की इच्छा करने लगा किन्तु उसके अत्यंत निर्धन हो जाने से किसी ने पूंजी उधार न दी। तब वह अति विपन्न और खिन्न हुआ, जिससे उसकी भूख तथा नींद जाती रही व वह दीन होकर विचार करता था। इतने में उसे पिता का वचन याद आया।

वह वचन यह था कि—हे पुत्र ! जो किसी भी प्रकार तेरे पास पैसा न हो तो मजबूत मध्य भाग वाले लकड़ी के डब्बे में तांबे के करंडिये के अंदर मेरा रखा हुआ पट्टक (लेख) देखना, और जो कुछ उसमें लिखा है उसे कहीं प्रकाशित मत करना।

ग्रहण की। वे मुनीश्वर सकल जीवों को अभयदान देते रहकर चिरकाल तक निरतिचार व्रत पालन करके मोक्ष को पहुँचे।

इस प्रकार तीनों लोक को विस्मित करने वाला चन्द्रोदर राजा का चरित्र सुनकर हे भव्यों ! तुम जिनभाषित दानादिक चार प्रकार के धर्म में प्रयत्न धारण करो।

इस प्रकार चन्द्रोदर राजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में दानादि चतुर्विध धर्मप्रवर्त्तनरूप ग्यारहवां भेद कहा। अब विह्लीकरूप बारहवें भेद का वर्णन करते हैं।

> हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं।
> सम्मं समायरन्तो-नय लज्जइ मुद्धहसिओ वि ॥७१॥

मूल का अर्थ—चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ हितकारी निर्दोष क्रिया पाकर उसका आचरण करता हुआ मुग्ध जनों के हंसने से लज्जित न हो।

टीका का अर्थ—हित याने इसभव तथा परभव में फायदा करने वाला और अनवद्य याने निष्पाप षड़ावश्यक-जिनपूजा आदि क्रिया को सम्यक रीति से अर्थात् गुरु की कही हुई विधि से समाचरता हुआ याने यथारीति सेवन करता हुआ शरमावे नहीं, यह मूल बात है। क्रिया कैसी सो कहते हैं—चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ याने दुःख से प्राप्त हो ऐसी है, उसे पाकर याने प्राप्त करके मुग्ध अज्ञानी लोग हंसे तो भी लज्जित न हो—रथ के समान।

ग्रहण की। वे मुनीश्वर सकल जीवों को अभयदान देते रहकर चिरकाल तक निरतिचार व्रत पालन करके मोक्ष को पहुँचे।

इस प्रकार तीनों लोक को विस्मित करने वाला चन्द्रोदर राजा का चरित्र सुनकर हे भव्यों! तुम जिनभाषित दानादिक चार प्रकार के धर्म में प्रयत्न धारण करो।

इस प्रकार चन्द्रोदर राजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में दानादि चतुर्विध धर्मप्रवर्त्तनरूप ग्यारहवां भेद कहा। अब विह्नीकरूप बारहवें भेद का वर्णन करते हैं।

हियमणवज्जं किरियं चिंतामणिरयणदुल्लहं लहिउं।
सम्मं समायरन्तो-नय लज्जइ मुद्धहसिओ वि ।।७१।।

मूल का अर्थ—चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ हितकारी निर्दोष क्रिया पाकर उसका आचरण करता हुआ मुग्ध जनों के हंसने से लज्जित न हो।

टीका का अर्थ—हित याने इसभव तथा परभव में फायदा करने वाला और अनवद्य याने निष्पाप षड़ावश्यक-जिनपूजा आदि क्रिया को सम्यक रीति से अर्थात् गुरु की कही हुई विधि से समाचरता हुआ याने यथारीति सेवन करता हुआ शरमावे नहीं, यह मूल बात है। क्रिया कैसी सो कहते हैं—चिंतामणि रत्न समान दुर्लभ याने दुःख से प्राप्त हो ऐसी है, उसे पाकर याने प्राप्त करके मुग्ध अज्ञानी लोग हंसे तो भी लज्जित न हो—रथ के समान।

दत्त की कथा इस प्रकार है।

विश्वपुरी नामक नगरी थी। वह इतनी सुन्दर थी कि–उसे दयिता के समान तरंग रूपी बाहुओं से समुद्र सदा आलिंगन करता था। वहां दुश्मनों का अनिष्ट करने वाला प्रियंकर नामक राजा था, तथा वहां अतुल ऋद्धि वाला दत्त नामक सांयात्रिक (जहाजी) वणिक था।

वह एक समय नौका (जहाज) में माल भरकर कंबुद्वीप में आया। वहां बहुतसा द्रव्य उपार्जन करके ज्योंही वह अपने नगर की ओर रवाना हुआ त्योंही प्रतिकूल पवन के सपाटे से उसकी नौका (जहाज) टूट गई। तब वह एक पटिये द्वारा समुद्र पार करके किसी भांति अपने घर आया।

समुद्र में गया हुआ समुद्र ही में से पीछा मिलता है। यह सोचकर वह पुनः घर में जो कुछ था वह जहाज में भर कर रवाना हुआ। पुनः जब वह पीछा फिरा तब दुर्भाग्य वश उसका जहाज टूट गया। तब दुःखी होकर फक्त शरीर लेकर घर आया। इतने पर भी वह पुरुषाकार को न छोडकर पुनः समुद्र यात्रा करने की इच्छा करने लगा किन्तु उसके अत्यंत निर्धन हो जाने से उसे किसी ने पूंजी उधार न दी। तब वह अति विपन्न और खिन्न हुआ, जिससे उसकी भूख तथा नींद जाती रही व वह दीन होकर विचार करता था। इतने में उसे पिता का वचन याद आया।

वह वचन यह था कि–हे पुत्र ! जो [illegible] तेरे पास पैसा न हो तो मजबूत मध्य भाग व [illegible] में ताम्र के करंडिये के अंदर मेरा रखा [illegible] देखना, और जो कुछ उसमें लिखा है उसे [illegible] करना

उसमें कहा हुआ काम मन को बराबर सावधान रखकर करना ऐसा करने से तेरे अतुल धन हो जावेगा ।

इस प्रकार पिता का वचन याद आने पर उसने गुपचु एकान्त में डब्बे को खोलकर उसमें से उक्त पट्रक निकाला । उस यह लिखा था कि गौतम नामक द्वीप में सर्वत्र रत्नमय घास है और उसे सुरभि नाम की गायें चरती हैं । अतः इस देश से गोबर से भरे हुए वहाण द्वारा वहां जाना, और वहां उस छाण को पत्तों वाले झाड़ की छाया में जगह जगह डाल देना ।

पश्चात् अपन ने जरा दूर छिप रहना वे सुरभि गायें दुपहर को व रात्रि को आकर वहां सुख से बैठेंगी । वे बहुत सा गोबर पटकेगी । वह इकट्ठा करके नौका (वहाण) में भर घर लाकर उसके पिंड अग्नि से जलाना । उसमें पांचों रंग के सुन्दर रत्न मिल जावेंगे । इस प्रकार पट्र में लिखा था । उसका अर्थ समझ कर दत्त अपने मन में इस भांति विचारने लगा ।

कोई भी बुद्धिमान हितेच्छु होकर, कुछ कहे तो वह बात सत्य ही होती है, तो फिर अतिशय वत्सल और चतुर पिता का लिखा हुआ कैसे असत्य हो ?

यह सोच वह कपट से पागल बन कर सारे नगर में ऐसा बकने लगा कि-मेरे पास बुद्धि बहुत है, किन्तु धन नहीं । तब धन के नाश से बेचारा दत्त पागल हो गया है, ऐसा सुनकर करुणापूर्ण हो राजा ने उसे बुलाया और पूछा कि, यह क्या बात है ? तब वह बोला कि- मेरे पास बुद्धि है, किन्तु धन नहीं तब राजा की आज्ञा से कोषाध्यक्ष ने उसे धन का ढेर बताया ।

उसने एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएं लेकर कहा कि बस मुझे इतने
धन) की आवश्यकता है तब भंडारी ने उसे उतना धन देकर
त्काल विदा किया।

अब उसने तुरंत ही गौतमद्वीप का मार्ग जानने वाले पुरुष
बुलाये, नौकर रखे, तथा वहाण तैयार किये। वह पुराने गोबर
का खाद्य एकत्रित करने लगा और स्वयं फक्त लंगोट पहिर कर
धूल से भरता हुआ खाद्य उपाड़ते भी शरमाया नहीं।

लोग हंसने लगे कि, अहो! दत्त ने कैसा ऊंचा माल खरीदा
है? अब तो इसका दारिद्र दूर ही हो जायगा। दूसरे बोलने
लगे कि—भला हो उस भले राजा का कि—जिसने ऐसे पुण्यवान्
वणिक को कर्ज दिया है।

तीसरे बोले कि—यह तो बेचारा पागल है, किन्तु अरे!
राजा भी पागल ही जान पड़ता है, कि—जो ऐसे को अपनी पूंजी
देता है। ऐसा बोलते हुए धूर्त लोग उसे पकड़कर रोकने लगे,
तथा करुणा वाले लोग उसे मना करने लगे, तथापि वह तो
पट्टक में लिखी हुई बात को साधने ही में तत्पर रहा।

वह गोबर से वहाण भरकर गौतम द्वीप में गया। वहां पट्टक
में लिखी हुई बात सिद्ध करके अपने नगर को आया।

अब बहुत से कंडों से भरे हुए उसके वहाण देखकर लोग
हंसने लगे कि—यह एक माल से दूसरा माल बड़ा ही अच्छा
लाया है। अब उसे दाण (महसूल) लेने वाले लोग राजा के
[illegible] ले गये तब राजा ने पूछा कि—तू क्या माल लाया है?
[illegible]ह बोला—

[illegible] से कुमार उन मुनि को भावपूर्वक इस प्रकार स्तुति करने लगा।

विद्वानों के कुल में [illegible] वाले, [illegible] करने वाले, [illegible] [illegible] [illegible] वाले, [illegible] [illegible] करने में [illegible] [illegible] हे मुनीन्द्र! आप जयवान रहो।

इस प्रकार मुनीन्द्र की स्तुति करके ज्यों ही यह कुमार [illegible] चलने को उद्यत हुआ त्योंही कायोत्सर्ग पूर्ण कर के मुनिराज आकाश मार्ग से उड़ गये। तब विस्मित हुआ कुमार जिनेश्वरों को नमन करके पर्वत से उतरा। वह चलते-चलते क्रमशः रत्नपुर नगर में आया।

वहां उसके चिरकाल की गाढ़ प्रीति वाले कुरुचन्द्र नामक बालमित्र ने उसे देखा और झट पहचान लिया। जिससे गाढ़ आलिंगन करके उसने [illegible] से पूछा कि– हे मित्र! तेरा यहां आना कैसे हुआ? सो आश्चर्य है। तथा श्रावस्ती से निकल कर इतने समय तक तूने कहां भ्रमण किया है? तथा अब तू सुन्दर रूपवान किस प्रकार हो गया है?

तब ताराचन्द्र ने श्रावस्ती से निकलने से लेकर अपना संपूर्ण वृत्तान्त उसे कह सुनाया। पश्चात् कुमार ने भी उसे पूछा कि तू हे कुरुचन्द्र मित्र! अब तेरा वृत्तान्त कह कि– तू कहां किसलिये आया है? और यहां से कहां जावेगा? पिताजी कैसे हैं? सकल राज्यचक्र प्रसन्न है? श्रावस्ती तथा ग्राम, पुर, देश बराबर शान्ति में हैं?

कुरुचन्द्र बोला कि– राजा की आज्ञा से इस रत्नपुर में मैं

आया हूँ, और अब श्रावस्ती को जाऊंगा। राज्यचक्र प्रसन्न है। साथ ही देश तथा नगरी भी शान्ति में है। मात्र एक राजा तेरे दुःसह विरह से दुःखित हैं।

जब से तू गुम हुआ तब से राजा ने तेरी खोज करने के लिये सब जगह मनुष्य भेजे किन्तु तेरा पता न लगा। इसलिये हे महाभाग! मैं रत्नपुर आया, सो बहुत ही श्रेष्ठ हुआ कि—जिससे तू एकाएक दैवयोग से मुझे मिल गया। अतः कृपा करके हे नर-वर नंदन! तेरे दर्शन रूप अमृतरस से अति दुःसह विरह रूप दावानल से जलते हुए तेरे पिता के हृदय को शान्त कर।

इस प्रकार प्रीतिपूर्वक मित्र के प्रार्थना करने पर वह उसके साथ रवाना होकर पिता के सजवाये हुए बाजारों की शोभा वाली श्रावस्ती में आ पहुँचा। उसने पिता को प्रणाम किया। पश्चात् अवसर पा राजा के पूछने पर मूल से लेकर अपना वृत्तान्त कहने लगा। इतने में वहां विस्तृत परिवार के साथ विजयसेन सूरि का आगमन हुआ। तब उनको वन्दन करने के लिये राजा कुमार के साथ वहां आया।

अब उक्त मुनीन्द्र को नमन करके राजा उचित स्थान पर बैठे तब गुरु मथाते समुद्र के समान उच्च शब्द से धर्मकथा कहने लगे।

यहां जन्म. जरा रूप पानी वाला अनेक मत्सररूप मच्छ-कच्छप से भरा हुआ, उछलते क्रोधरूप बड़वानल की ज्वाला से दुष्प्रेक्ष्य हुआ, मानरूप पर्वत से दुर्गम्य, मायारूप लता के तन्तुओं से गुथा हुआ, गहरे लोभरूप पातालवाला, मोहरूप चकरियों वाला, अज्ञानरूप पवन से उड़ती हुई संयोग वियोगरूप विचित्र रंग की तरंगों वाला यह संसाररूप समुद्र है। उसको यदि पार करना

वाले हो तो, हे स्वामी ! तुम सम्यक्-दर्शन रूप दृढ़ पट्टानवाला
शुद्ध भावरूप पर्व-पर्व पट्टियों वाला, महान् संवर से रोके हुए सकल
छिद्रों वाला अति दृढ़ध्यान; वैराग्य मार्ग में लगा हुआ, [illegible]
तपरूप पवन से झपाटे बंध चलता हुआ और सम्यक्-ज्ञानरूप
कर्णधार वाला चारित्र रूप जहाज पकड़ो ।

यह सुन राजा निर्मल चारित्र ग्रहण करने को तैयार होकर
आचार्य को कहने लगा कि—राज्य को स्वस्थ करके हे प्रभु ! मैं
आपसे व्रत लूंगा । मुनीन्द्र ने कहा कि—अनगार धर्म प्रतिबन्ध मत
करो । तब राजा प्रसन्न होकर अपने घर आया ।

पश्चात् वह स्वच्छ मतिमान् राजा सकल मंत्री व सामन्तों
को पूछकर, ताराचन्द्र कुमार को राज्य में अभिषिक्त करने लगा ।
इतने में विनय से नम्र हुए शरीर से अंजलि जोड़कर कुमार
बोला कि—हे तात ! मुझे भी व्रत ग्रहण करने की आज्ञा देकर
अनुग्रह कीजिए । क्योंकि—जन्म दुःखरूप तरंगों वाला यह भयं-
कर और दुरंत संसार समुद्र चारित्ररूप जहाज बिना पार नहीं
किया जा सकता ।

तब राजा ने कहा कि—हे वत्स ! तेरे समान समझदार को
ऐसा करना उचित ही है, तथापि अभी कुछ दिन तक वंश परंपरा
से आया हुआ राज्य पालन कर, पश्चात् न्याय और पराक्रम-
शाली पुत्र को राज्य सौंप कर, फिर कल्याणरूप लता बढ़ाने को
पानी की पनाल समान दीक्षा ग्रहण करना । यह कह कर बलात्
उसे राज्य में स्थापित कर, राजा श्री विजयसेन सूरि से दीक्षा
लेकर देवलोक में गया ।

अब ताराचन्द्र राजा सर्वव्रत लेने के परिणाम वाला रहकर,
प्रतिसमय अधिकाधिक मनोरथ करने लगा । वह जिन मन्दिर

बनवाने लगा, सदैव जिन प्रवचन की प्रभावना कराने लगा और विधि के अनुसार अनुकंपादान आदि में भी प्रवृत्त रहने लगा। वह अपने घर के पड़ोस में बनवाई हुई पौषधा-शाला में जाकर पौषध करने में उद्युक्त रहता, तथा सदाचार में प्रवृत्त रहकर धर्मीजनों का अनुमोदन करता। तथा अनेक नय, प्रमाण, गम और भंग से युक्त भारी विचार के भार को सह सकने वाला व पूर्वापर अविरुद्ध उत्तम सिद्धान्त को सुनता था।

इस प्रकार रहते भी वह गृहवास में दुःख मानता था, किन्तु राज्याधिकारी दूसरा न होने से वह राज्य को स्वामी रहित नहीं छोड़ सकता था। जिससे जैसे अल्प पानी में मत्स्य रहता है, वैसे ही वह दुःखपूर्वक गृहवास में रहता था। वह फक्त बहि-र्वृत्ति ही से राज्य और राष्ट्र के कामकाज संभालता था। अन्त समय पर मृत्युवश हो अच्युत देवलोक में बड़ा देवता वहां से च्यवन होने पर महाविदेह में वह राजपुत्र होकर लो, सर्वत्र अरक्तद्विष्ट रहकर मुक्ति को जावेगा।

इस भांति चन्द्र की कान्ति समान चमकते हुए ताराचन्द्र महाराजा का चरित्र हर्ष से सुनकर स्वजन, गृह आदि में अरक्तद्विष्ट रहकर, शिवसुख दाता शुद्ध स्पष्टतः मन धारण करो।

इस प्रकार ताराचन्द्र की कथा पूर्ण हुई

इस प्रकार सत्रह भेदों में अरक्तद्विष्ट
अब मध्यस्थरूप चौदहवें भेद की व्याख्या

उवसमसारवियारो बाहिज्जइ नेव
मज्झत्थो हियकामी असग्गहं ५०

मूल का अर्थ—उपशम से भरे हुए विचारवाला हो, क्योंकि—वह रागद्वेष में फंसा हुआ नहीं होता, अतः हितार्थी पुरुष मध्यस्थ रहकर सर्वथा असद् ग्रह का त्याग करे।

टीका का अर्थ—उपशम याने कषायों को दबा रखना, इस रीति से जो धर्मादिक का स्वरूप विचारे सो उपशमसार विचार कहलाता है। अब ऐसा किस प्रकार होता सो कहते हैं :—क्योंकि वह विचार करता हुआ रागद्वेष से अभिभूत नहीं होता। जैसे कि—मैं ने बहुत से लोगों के समक्ष यह पक्ष स्वीकार किया है और अनेकों लोगों ने इसे प्रमाणित माना है। अतः अब स्वतः माने हुए को किस प्रकार अप्रमाणित करूं, यह विचार कर स्वपक्ष के अनुराग में नहीं पड़े।

जिससे "यह मेरा दुश्मन है, क्योंकि—यह मेरे पक्ष का दूषक है। अतः इसे बहुत से लोगों में नीचा दिखाऊं"। यह सोचकर भले बुरे दूषण खोलना, गाली देना आदि प्रवृत्ति के हेतुरूप द्वेष से भी अभिभूत नहीं होना—किन्तु मध्यस्थ याने सर्वत्र समान मन रखकर हितकामी याने स्वपर के उपकार को चाहता हुआ असद् ग्रह याने असद् अभिनिवेश को सब प्रकार से मध्यस्थ और गीतार्थ गुरु के वचन से प्रदेशी महाराज के समान छोड़ देता है।

प्रदेशी राजा का चरित्र इस प्रकार है :—

जहां के आराम (बगीचे) सच्छाय (सुन्दर छाया युक्त) सुवयस (सुन्दर पक्षियों युक्त) और वरारोह (ऊंचे झाड़ वाले) हैं और जहां की रामा (स्त्रियां) सच्छाय (सुन्दर कान्तिवान्) सुवयस (सुन्दर वय वाली) और वरारोह (सुन्दर शरीर वाली) हैं।

इस भांति दोनों समान है। तथापि केवल आकार मात्र से अ' ... का भेद प्रतिभास होता है ऐसी आमलकल्पा नामक नगरी थी। वहां पवित्र चारित्रवान्, संसाररूप पर्वत की सैकड़ों चोटियां तोड़ने में अति कठिन वज्र समान श्री वीरप्रभु एक समय पधारे।

तब वहां देवों ने विधि के अनुसार तीनों गढ़ से शोभायमान समवसरण की रचना की। जो कि मानो भावशत्रुओं से पीडित जीवों के रक्षण के हेतु दुर्ग बनाया हो, ऐसा भास होता था। वहां पूर्व दिशा से भगवान प्रवेश करके "नमो तित्थस्स" बोलते हुए सिंहासन पर बैठकर इस प्रकार देशना देने लगे—

प्रचंड पवन से हिलते दर्भ की नोक पर स्थित पानी के बिन्दु समान आयुष्य चपल है। पर्वत में बहती नदी के पानी के प्रवाह समान स्वजन सम्बन्धी हैं। सांझ के बादलों के रंग समान जीवों की तरुणावस्था है और मदोन्मत्त हाथी के बच्चों के कान समान धन दौलत अस्थिर है। इस प्रकार सकल वस्तुओं को क्षणिक सोचकर हे भव्यों! अक्षणिक सुखकारी धर्म में यत्न करो।

इसी समय सूर्य के समान विमान की कांति से दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ कोई देवता आकर धर्म-कथा पूरी हो जाने पर कहने लगा कि—हे स्वामिन्! आप तो संपूर्ण केवलज्ञान से सब कुछ जानते ही हो, तो भी गौतमादिक मुनियों को मैं अपना नाटक बताऊं। पश्चात् पुनः वह भगवान को प्रणाम करने की आज्ञा लेने लगा। तब जगत् रक्षक भगवान ने कहा कि—यह तेरा कृत्य है और जीत है। इसके अनन्तर वह देव हर्षित होकर अपने स्थान को गया।

अब गौतम गणधर जिनेश्वर को प्रणाम करके पूछने लगे कि यह कौन देवता है, और इसने पूर्व में क्या सुकृत किया? स्वामी

बोले कि–पहिले देवलोक में सूर्याभ नामक विमान का यह सूर्याभ-देव है। इसने पूर्वभव में यह सुकृत किया है।

जैसे विष्णु की मूर्ति श्री परिकलित, रामाभिनंदिनी (बलराम से शोभायमान) और गदान्वित (गदा आयुध सहित) होती है। वैसे ही श्री परिकलित (आबाद) रामाभिनंदिनी (रमती स्त्रियों से शोभायमान), तथापि गद रहित (रोग रहित) श्वेतविका नाम नगरी थी।

वहां दुश्मनों को देश प्रवास कराने वाला प्रदेशी नामक चार्वाक मत में चतुर राजा था। उसको लावण्य से रम्यरूपवाली सूर्यकान्ता नामक सत्कान्ता थी और अपने तेज से सूर्य को जीतने वाला सूर्यकान्त नामक पुत्र था। तथा अपनी बुद्धि से बृहस्पति को जीतने वाला चित्र नामक उसका मंत्री था। वह राजा के मन रूपी मानस में राजहंस के समान सदैव बसता था। उसको राजा ने एक समय भेट देकर श्रावस्तीपुरी में जितशत्रु राजा के पास राजकार्य साधने के हेतु भेजा।

वहां वह भेट देकर सब काम शीघ्र ही कर लेता था क्योंकि–बुद्धिमान पुरुष शीघ्र विधायी (जल्दी काम करने वाले) होते हैं। वहां उद्यान में चित्र मंत्री ने उज्वल चरित्रवान्, चौदहपूर्वधारी, चतुर्ज्ञानी पार्श्वनाथ के संतानीय (केशिकुमार को देखे)।

पांच आचार के विचार प्रपंचरूप सिंह के रहने के वन समान दुर्जय मन्मथ के मथने वाले, शिव-पथ के रथ समान, निर्मल गुण-युक्त, यति की श्रेणी से परिवारित, केशि नामक प्रथित हुए कुमार श्रमण आचार्य को देखकर, नमन करके इस भांति धर्म श्रवण करने लगा–

वह जो मेरे समान मंत्री मिलने पर भी नरक में जायेगा तो हाय हाय ! मेरी बुद्धि की क्या चतुराई होगी ? अतः किसी भी प्रकार से इसे गुरु के पास ले जाऊं । यह विचार कर वह घोड़े फिराने के बहाने से राजा को उद्यान में ले गया । अब राजा दुर्दम घोड़े के तीव्र दमन से थक गया ।

तब चित्र ने प्रदेशी राजा को विश्रान्ति लेने के लिये वहां बैठाया । जहां कि—समीप ही केशि गुरु विस्तृत सभा में जिन-धर्म समझाते थे । अब सूरि को देख कर राजा चित्र मंत्री को कहने लगा कि—यह मुंड उच्च स्वर से क्या चिल्लाता है ? मंत्री बोला कि— मैं भी कुछ नहीं जानता । अतएव समीप चलकर सुनें तो अपना क्या जाता है ?

इस पर से राजा सुगुरु के पास आया । तब उसे प्रतिबोधित करने में कुशल मतिमान् गुरु बोले कि—हे जनों ! तुम परमार्थ में शत्रु समान समस्त प्रमाद को छोड़कर परमार्थ में पथ्य समान धर्म करो ।

तब राजा बोला कि—तुम्हारा वचन मेरे मन को अधिक प्रसन्न नहीं करता क्योंकि— पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से पृथक् कोई अन्य परलोक में जाने वाला जीव है ही नहीं । वह इस प्रकार कि-जीव है ही नहीं, क्योंकि—वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता । गधे के सींग के समान. जो वैसा नहीं सो चार भूत के समान यहां प्रत्यक्ष दीखता है ।

गुरु बोले कि—हे भद्र ! क्या यह जीव तेरे देखने में आता ही नहीं है इससे नहीं है ? या सब के देखने में नहीं आता है सो नहीं है ? । इसमें प्रथम पक्ष कुछ योग्य नहीं है । क्योंकि

राजा और रंक, पंडित और जड़, सुरूप और कुरूप, श्रीमन्त और दरिद्र, बलवान और दुर्बल, निरोगी और रोगी, सुभग और दुर्भग इन सबका मनुष्यत्व समान होते जो अन्तर दीखता है, सो कर्म के कारण से है और कर्म जीव बिना युक्तिमत् नहीं होते।

इसलिये हे राजन्! अपने शरीर में "मैं सुखी हूँ" इत्यादि जो प्रतीति होती है उसके द्वारा जान पड़ता है कि जीव कर्त्ता, भोक्ता और परलोकगामी सिद्ध होता है। अब अपने शरीर में जैसे ज्ञानपूर्वक प्रत्येक विशिष्ट चेष्टा होती देखने में आती है। वैसे ही दूसरे के शरीर में भी बुद्धिमान जनों ने अपनी बुद्धि से अनुमान से उसकी सिद्धि कर लेना चाहिये।

अब राजा बोला कि-जो परभवगामी जीव हो तो मेरे पिता जीवहिंसा आदि पाप करने में निमग्न रहने वाले थे। वे आपके मत से नरक में गये होंगे। तब वे यहां आकर मुझे क्यों नहीं समझाते कि-हे पुत्र! यह दुःखदायी पाप मत कर। इसलिये यहां जीव परभव को जाता है यह बात किस प्रकार युक्ति की अनी पर लागू पड़ सकती है? तब बुद्धिबल से बृहस्पति को जीतने वाले गुरु बोले:—

जैसे किसी महान् अपराध में कोई मनुष्य कैद में डाला जावे, तो फिर वह पहरेदारों के आधीन रहकर अपने स्वजनों को देख भी नहीं सकता। वैसे ही अपने दारुणकर्म की शृंखला से निगडित हुआ नारक जीव, परमाधार्मिक देवों के आधीन रहने से यहां नहीं आ सकता।

पुनः राजा बोला कि, मेरी माता मेरी ओर सदैव वत्सल (प्रीतिवान्) थी। वह साम[illegible] व पौषध आदि धर्म के कार्यों में

पश्चात् जब वह संदूक खोला तो उसमें उसका शरीर कृमियों से भरा हुआ देखा। अतः जबकि उसमें छेद नहीं था तो उसमें से उसकी आत्मा कैसे निकल गई। तथा उसके अन्दर वह अनेक कृमि किस भाँति घुसे होंगे? अतः आत्मा परभव को जाती है यह बात तेरे विचार में किस प्रकार टिक सकती है?

अब करुणा जल के समुद्र गुरु बोलेः—यहां किसी नगर में कोई शंख बजाने वाला रहता था। उसके पास ऐसी लब्धि थी कि–वह चाहे जंगल में जाकर शंख बजाता तो भी लोग ऐसा मानते थे कि–मानो वह कान के समीप ही बजाता हो।

वहां का राजा एक समय संडास में गया। इतने में वह शंख का शब्द सुनकर शंका से आकुल हुआ, जिससे उसको बड़ी–नीति न हुई। उससे उसने उस शंख बजाने वाले को मारने की आज्ञा दी। तब वह बोला कि–हे नाथ! यह तो मेरी लब्धि है, कि–दूर से शब्द होने पर भी ऐसा लगता है मानो कान के पास में होता हो। ऐसा कैसे हो सकता है? यह परीक्षा करने के हेतु राजा ने उसे लोहे की कोठी में डाला व बाद में उसे मोम लगा-कर बन्द किया।

अब उसने शंख बजाया तो सारी सभा बहरी हो गई। तब उसमें छेद आदि देखे गये पर कहीं न दीखे। तथा लोहे के पिंड में अन्दर जो विवर न हो तो उसमें अग्नि के परमाणु कैसे प्रवेश करें कि–जिससे वह जलती हुई अग्नि के गोले के समान दीखता है? इस भांति जबकि मूर्त्त शब्दादि को भी जाते आते रुकावट नहीं होती तो फिर अमूर्त्त जीव को न हो इसमें कौनसा दोष है?

टीका का अर्थ—भावना करता हुआ याने विचारता हुआ अनवरत–प्रतिक्षण, समस्त वस्तु याने तन, धन, स्वजन, यौवन, जीवित आदि सर्व भावों की क्षणभंगुरता याने निरन्तर विनश्वरता को विचारता हुआ बाहिर से प्रतिपालन वर्द्धन आदि करता रह कर संबद्ध याने जुड़ा हुआ होते भी धन स्वजन हाथी घोड़े आदि में प्रतिबंध याने मूर्छा रूप संबंध न करे। नरसुन्दर राजा के समान। क्योंकि-भावश्रावक हो, तो इस प्रकार विचारता है। द्विपद, चतुष्पद क्षेत्र, गृह, धन, धान्य, ये सब छोड़कर एक कर्म के साथ परवश हुआ जीव सुन्दर वा असुन्दर भव में भटकता रहता है।

नरसुन्दर राजा की कथा इस प्रकार है।

उदय, सत्ता और बंधवाली कर्मग्रंथ की वृत्ति के समान प्रकटित उदयवाली (आचार) बहुविधि सत्ववाली (अनेक प्रकार के प्राणियों वाली), तथापि बंध रहित ताम्रलिप्ती नामक नगरी थी। वहां सम्यक् रीति से परिणत जिन समयरूप अमृत रस से विषरूप रिपु के चक्र को नष्ट करने वाला और गृहवास में शिथिल मनवाला नरसुन्दर नामक राजा था। उसको अति लावण्य और रूपवाली बंधुमती नामक बहिन थी उसका विवाह उज्जयिनी के राजा अवंतिनाथ के साथ हुआ था।

वह रामा में अनुरक्त था। मद्यपान में भी आसक्त था और जुआ में भी फंसा हुआ था। इस भांति मत्त रहकर उसने बहुत सा काल व्यतीत किया। इस भांति राजा के प्रमत्त हो जाने पर राज्य नष्ट होने लगा। यह देख राज्य के बड़े-बड़े मनुष्यों ने तथा मंत्रियों ने सलाह करके पुत्र को गद्दी पर बैठा कर, मद्य पीकर सोते हुए राजा को रानी सहित अपने मनुष्यों द्वारा उठवाकर अरण्य में छोड़ दिया। और उसने [illegible] में पुनः वहां न [illegible]

को सूचन देने वाला लेख बांध दिया। अब प्रातःकाल उठकर ज्योंही वह दिशाएं देखने लगा तो चारों ओर उसने सिंह, हरिण, भयंकर वाघों से भरा हुआ वन देखा; तथा उक्त लेख देखा जिससे वह उदास हो कर रानी को इस भांति कहने लगा।

हे सुतनु! अपन जिनको प्रसन्न रखते, खूब दानमान देते, सदैव भारी कृपाओं से अनुगृहीत करते, अपराध में भी जिनकी ओर मीठी दृष्टि से देखते, जिनका रहस्य अप्रकट रखते तथा संदेहपूर्ण कार्यों में जिनकी सलाह लेते थे। उन धूर्त सामंत और मंत्रियों की कार्यवाही देख! इस भांति राजा दैवकोप हुआ न जानकर बक - बक करने लगा। तब बंधुमति ने युक्तिपूर्वक कहा कि—

हे स्वामिन्! सफल पुरुषाकार को विफल करने वाले और अघटित घटना घड़ने की इच्छा करने वाले दुर्दैव ही का यह काम है। इसलिये इसकी चिंता करना व्यर्थ है। हे स्वामी! उदास मत हो ओ। चलो! हम ताम्रलिप्ती नगरी में चलकर नरसुन्दर राजा को प्रीति से मिलें। राजा ने यह बात स्वीकार की। पश्चात् वे चलते-चलते क्रमशः ताम्रलिप्ती के समीपस्थ उद्यान में आ पहुँचे। अब बंधुमति कहने लगी कि—हे स्वामिन्! आप यहीं पर थोड़ी देर बैठिये, ताकि मैं जाकर मेरे भाई को आपके आगमन का समाचार दे आऊं। किसी प्रकार राजा के हां करने पर बंधुमति अपने पर भारी ममता बताने वाले भाई के घर आ पहुँची।

वहां उसने महान् सामंतों से सेवित, पास में खड़ी हुई वीरांगनाओं से विंजायमान और सेवकों से जय जयकार द्वारा प्रत्येक वाक्य से बधाया जाता हुआ सिंहासन पर बैठा हुआ नरसुन्दर

साथ में रहे हुए परिजनों के शीतोपचार करने से सचेत हुई। तब चिल्लाकर व्याकुल हो इस भांति विलाप करने लगी।

हे हृदय के हार प्रियतम, गुणसमूह के निवास, नमे हुए पर कृपा करने वाले ! किस पापिष्ट ने आपको इस अवस्था में पहुंचाया है ? हे नाथ ! वियोग रूप वज्राग्नि से जलते हुए मेरे हृदय को बचाओ। हे हृदय को सुख देने वाले ! इतना विलंब क्यों करते हो ? हे अभागे दैव ! तूं ने राज्य हरण किया, देश छुड़ाया, हितेच्छुओं से अलग किया तो भी तूं संतुष्ट न हुआ। जिससे और भी हे पापिष्ट ! तूं ने यह काम किया।

इस प्रकार विलाप करती हुई भाई के मना करने पर भी वह अपने पति के साथ प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ी।

अब नरसुन्दर राजा निर्वेद (वैराग्य) पाकर चिन्तवन करने लगा कि—जगत् की स्थिति कैसी अचिन्त्य और अनित्य है ? जो सुखी होता है, वही क्षण भर में दुःखी हो जाता है। राजा रंक हो जाता है। मित्र होता है सो शत्रु बन जाता है और संपत्ति विपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। किस प्रकार अभी दीर्घ काल में बहिन से समागम हुआ और किस प्रकार पीछा अभी ही वियोग हो गया ? अतः संसारवास को धिक्कार हो ओ।

तीर्थंकर जो कि वास्तव में तीनों भवन के लोगों को प्रलय से बचाने में समर्थ होते हैं, उनको भी अनित्यता निगल जाती है। अफसोस ! अफसोस ! रण में सन्मुख खड़े हुए, उद्भट, लड़ते हुए दुश्मन सुभटों के चक्र को हराने में समर्थ चक्रवर्ती भी क्षण-भर में मर जाते हैं। तथा महान् भुजबली बलदेव के साथ मिल-कर चालाक प्रतिपक्षी का चूर-चूर करते हैं, ऐसे हरि (वासुदेव)

को भी कृतान्त रूप हरि (सिंह) हरिण के समान हर ले जाता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि—हाथी के कान, इन्द्रधनुष और विद्युत की चपलता के द्वारा ये सब वस्तुएं बनाई गई हैं। उसी से वे क्षण दृष्टनष्ट हैं।

ऐसे संसार में जो परमार्थ जानकर भी विश्वस्त (भोले) हो कर, अपने घरों में क्षणमात्र भी रहते हैं, उनकी कितनी भारी धृष्टता है? इस भांति उसने विरक्त होकर धनादिक में संबद्ध होते भी भाव से अप्रतिबद्ध हो, घर रहकर कुछ दिन व्यतीत किये।

उसने समय पर राज्य का भार उठाने में समर्थ पुत्र को राज्य सौंप कर श्रीषेण गुरु से दीक्षा ग्रहण की अब वह द्रव्य से वस्त्रादिक में, क्षेत्र से ग्रामादिक में, काल से समयादिक में, भाव से क्रोध, मान, माया, लोभ में प्रतिबंध छोड़कर अनशन करके मन में जिन-शासन को धारण करता हुआ, शरीर में भी अप्रतिबद्ध होकर, मर कर ग्रैवेयक देवता हुआ। वहां से उत्तरोत्तर कितनेक भव तक सुरनर की लक्ष्मी का अनुभव करके प्रव्रज्या ले उसने परमपद प्राप्त किया।

इस प्रकार नरसुन्दर का चरित्र सुनकर हे भव्यों! जो तुम किसी भारी कारण के योग से शीघ्र दीक्षा लेने में समर्थ न हो सको तो द्रव्य से देह, गेह विषय तथा द्रव्यादिक में सम्बद्ध रहते भी उनमें भाव से भारी प्रतिबंध मत करो।

इस भांति नरसुन्दर की कथा पूर्ण हुई।

इस भांति सत्रह भेदों में अप्रतिबद्धरूप पन्द्रहवां भेद कहा। अब परार्थ कामोपभोगी रूप सोलहवां भेद कहने को कहते हैं—

संसारविरत्तमणो भोगुवभोगो न तित्तिहेउत्ति ।
नाउं पराणुरोहा पवत्तए कामभोएसु ॥ ७५ ॥

मूल का अर्थ — संसार से विरक्त मन रखकर भोगोपभोग से तृप्ति नहीं होती, यह जानकर कामभोग में परानुवृत्ति से प्रवृत्त होवे ।

टीका का अर्थ — यह संसार अनेक दुःखों का आश्रय है । यथा — 'प्रथम दुःख गर्भावास में माता की कुक्षी में रहने का होता है, पश्चात् बाल्यकाल में मलीन शरीर वाली माता के स्तन का दूध पीने आदि का दुःख रहता है, तदनन्तर यौवन में विरह जनित दुःख रहता है और वृद्धावस्था तो असार ही है । इसलिए हे मनुष्यों ! संसार में जो थोड़ा कुछ भी सुख हो तो कह बताओ ?' इसीसे वे संसार से विरक्त मन रखते हैं ।

भोगोपभोग ये हैं कि — जो एक बार भोगा जाय सो भोग । जैसे कि — आहार, फूल आदि और बार - बार भोगे जाय सो उपभोग । जैसे कि — गृह, शय्या आदि । इस प्रकार आगम में वर्णित भोगोपभोग प्राणियों को तृप्ति के हेतु नहीं हैं, यह समझ कर परानुरोध से अर्थात् पर की दाक्षिण्यता से गंध, रस, स्पर्श में भावश्रावक प्रवृत्त होवे । पृथ्वीचन्द्र राजा के समान ।

पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र इस प्रकार है —

यहां सैकड़ों उपान्यायों से निरन्तर भूषित अयोध्या नामक नगरी थी । वहां न्यायवन्तों में प्रथम मान्य हरीसिंह नामक राजा था । उसकी नेत्रों के विलास से पद्म को जीतने वाली पद्मावती नामक रानी थी और चन्द्र समान उज्वल यश वाला पृथ्वीचन्द्र नामक पुत्र था ।

उसे एक समय मुनि को देखकर जाति-स्मरण उत्पन्न हूआ। जिससे उसे पूर्वभव में पालन किया हुआ निर्मल चारित्र याद आया। जिससे वह तीव्र विष वाले सर्प के शरीर के समान कामभोग को दूर ही से त्यागता। वह उद्भट वेश नहीं पहिनता, शृंगार युक्त वचन कदापि नहीं बोलता, मित्र के साथ भी नहीं खेलता और दुर्दम हाथी, घोड़ों को भी नहीं दमता (दौड़ाता) था. वह माता पिता की भक्ति करता, मुनि के चरणों में नमन करता, जिनपूजन में उद्युक्त रहता और सदैव परमार्थ के शास्त्र विचारता हुआ रहता था। पश्चात् राजा विचार में पड़ा कि यह कामदेव समान रूपवान पुत्र किस प्रकार राजपुत्रोचित भोगविलास में लगेगा।

इस दुनिया में राजपुत्रों ने नव-यौवन के प्रारम्भ मौजी होना और दुश्मनों को जीतने के लिए कठिन उद्यम करना, यह कहा जाता है। किन्तु यह कुमार तो मुनिवर के सदृश शास्त्रचिंतन में तत्पर होकर शान्त हो रहता है। अतएव जो पराक्रम-हीन हो जावेगा तो वागियों से पराजित हो जावेगा। इसलिये अब ऐसा करूं कि- उसका विवाह कर दूं, ताकि आपही आप उनके वश में होकर सब कुछ करेगा। क्योंकि कहा जाता है कि:—जब तक छेक (चालाक) रहता है, तब तक मानी, धर्मी, सरल और सौम्य रहता है, जहां तक मनुष्य को स्त्रियों ने घर के नट के समान भमाया न हो।

यह सोचकर राजा ने प्रीति से कुमार को विवाह करने के लिये कहा। तब उसने इच्छा न होते भी पिता के अनुरोध से यह बात स्वीकार की। पश्चात् कुमार का समकाल ही में बड़े-बड़े सरदारों के वंश में जन्मी हुई आठ कन्याओं से पाणिग्रहण कराया है।

अब विवाह महोत्सव प्रारम्भ होते ही मंगल बाजे बजने लगे। तरुण स्त्रियां नाचने लगी। लोग हर्षित होने लगे।। उस समय पृथ्वीचन्द्र कुमार काम को जीत, विवेक गुण धारणकर मध्यस्थ मन रखकर के श्रमण के समान अरक्तद्विष्ट रहा। वह सोचने लगा कि–अहो! मोह महाराजा का यह कैसा विलास है कि जिससे तत्त्व को बिना जाने ये लोग व्यर्थ के विवाद में पड़ते हैं।

(वास्तव में) गीत विलाप है। नृत्य शरीर को परिश्रम रूप है। अलंकार भार रूप हैं और भोगोपभोग क्लेश करने वाले हैं। जिसमें माता पिता का मोह देखो कि– जो थोड़े दिनों से साथ बसे हुए मुझे काम के हेतु अत्यन्त तीव्र स्नेह के कारण इस प्रकार हैरान होते हैं। केल के गर्भ समान इस असार संसार में जिन सिद्धान्त के तत्त्व को जानने वाले जीवों को क्षण भर भी रमण करना उचित नहीं।

यद्यपि इस विषय में मेरे माता पिता का अतिनिविड़ आग्रह है और उनको मेरे पर इतना भारी स्नेह है कि– वे क्षणभर भी मेरा विरह नहीं सह सकते। तथा प्रेम से परवश हुई इन बालाओं को विवाह करके अभी छोड़ देने से वे मोहवश दुःखी होती हैं। वैसे ही अभी दीक्षा लूं तो मोह वश दूसरे लोग भी मेरी निन्दा करें, अतएव माता पिता के अनुरोध से मैं कैसे संकट में पड़ा हूँ? तो भी कुछ हानि नहीं, क्योंकि–अभी जो इनका पाणिग्रहण करूंगा तो, समय पर लघुकर्म से सब दीक्षा भी लेंगी।

यदि जो माता पिता को जिनमत में प्रतिबोधित कर मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूं तो, इन सब का निश्चय बदला चुक जाय। यह सोच दिवस के काम पूरे कर स्त्रियों के साथ रतिगृह में उचित स्थान पर बैठकर इस प्रकार बातचीत करने लगा।

इसलिये अभी मुझे परम प्रीति से पिता का वचन मानना चाहिये। यह सोचकर कुमार ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की।

अब पृथ्वीचन्द्र कुमार को सकल सामंत व मन्त्रियों के साथ राजा राज्याभिषिक्त करके कृतकृत्य हुआ। कुमार राजा राज्य-लक्ष्मी से लेश मात्र भी प्रसन्न न हुआ, तथापि पिता के आग्रह से उचित प्रवृत्ति करने लगा। उसने राज्य में से व्यसन दूर किये, कैदखाने छोड़ दिये और अपने सारे मंडल में अमारीपड़ह बजवाया। उसने प्रायः समस्त लोगों को जिनशासन में भक्तिवंत किये। सत्य कहा है कि—जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है।

एक समय वह सभा में बैठा था। इतने में द्वारपाल ने कहा कि—हे देव! देशांतरवासी कोई सुधन नामक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है। राजा ने कहा कि—अन्दर भेजो। तदनुसार उसने सुधन को अन्दर भेजा। वह राजा को नमन करके उचित स्थान पर बैठ गया।

राजा ने कहा कि, हे सेठ बोलो! तुम यहां कहां से आये हो, तथा पृथ्वी में फिरते हुए तुमने कहीं आश्चर्य जनक बात देखी है क्या? सेठ बोला कि, हे स्वामिन् मैं गजपुर नगर से यहां आया हूँ और सारे जगत् को विस्मय उत्पन्न करने वाला एक आश्चर्य भी देखा है। वह इस प्रकार है—

गजपुर नगर में बहुत से रत्नों वाला रत्नसंचय नामक सेठ था। उसकी सुमंगला नामक भार्या थी, और गुणसागर नामक पुत्र था। अब वह कुमार नवयौवनावस्था को प्राप्त हुआ। तब उसके लिये रत्नसंचय सेठ ने नगर सेठों की आठ कन्याएँ मांगी।

बाद एक समय झरोखे में बैठे हुए गुणसागर ने राजमार्ग में भिक्षार्थ नगर में प्रवेश करते हुए एक मुनि को देखा। तब वह सोचने लगा कि–ऐसा रूप तो मैंने पहिले भी कहीं देखा है। यह सोचकर वह पूर्व में पालन किये हुए चारित्र वाले भव को स्मरण करने लगा। पश्चात् वह अति आग्रह से व्रत लेने के लिये माता पिता को पूछने लगा। तब उसकी माता खिन्न हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी–

हे वत्स! यद्यपि तेरा चित्त क्षणभर भी घर में नहीं लगता तथापि तू विवाह करके तेरा मुख बता कर हमारे हृदय को प्रसन्न कर। इसके बाद व्रत लेने में मैं कुछ भी रुकावट नहीं करूंगी। माता के इस प्रकार कहने पर उसने वह बात स्वीकार की।

अब रत्नसंचय सेठ ने सम्बन्धियों को कहलाया कि–विवाह करने के अनन्तर मेरा पुत्र शीघ्र ही दीक्षा लेने वाला है। यह सुन वे चिन्तातुर हो सलाह करने लगे। इतने में उनकी पुत्रियां बोली कि–हे पिताओं! कन्याएं क्या दो बार दी जाती हैं? अतएव हमारे तो वे ही पति हैं और वे जो करेंगे सो हम भी करेंगी। अगर वे हमारा पाणिग्रहण नहीं करेंगे, तो हम दूसरा वर कदापि नहीं करेंगी।

इस प्रकार पुत्रियों का वचन सुनकर उन सब सेठों ने प्रसन्न हो अपनी पुत्रियों को गुणसागर के साथ विवाह दी। विवाह महोत्सव प्रारम्भ होने पर अनेक धवल गीत गाये जाने लगे, और मनोहर नृत्य होने लगे। उसमें गुणसागर कुमार नाक पर दृष्टि रखकर, इन्द्रिय विकार रोक, एकाग्र मन करके सोचने लगा कि-श्रमण हो गया होता तो इस भांति श्रुत पढ़ता, इस भांति गुरु का विनय करता, इस भांति तप करता, इस भांति संयम में यत्न करता और इस भांति शुभ ध्यान धरता।

इस प्रकार वह शांत होकर सोचने तथा पूर्वभव में सीखे हु[ए] श्रुत का रहस्य चिंतवन करते हुए शुक्ल–ध्यानस्थ होकर केवल-ज्ञान को प्राप्त हुआ। तथा वे नववधूएँ भी उसे निश्चल आँखों से एकाग्र हुआ देख हर्षित हो लज्जा से तिरछे नेत्रों द्वारा उसे देखने लगीं, वे सोचने लगीं कि-अहो! यह भाग्यवान पुरुष उप-शम लक्ष्मी में खूब रंजित हुआ है। वह हम [illegible] स्त्रियों में किस भांति आसक्त हो? हम भी पुण्यवान् हैं कि ऐसा सद्गुण रूप धनवाला, शिवपुर का सार्थवाह और भवसागर का पार प्राप्त करवाने को समर्थ पति मिला। (हम भी) इसी का अनुसरण करके धर्म का भलीभांति पालन कर अनेक भवों के दुःखों का विच्छेद करेंगी। ऐसा सोचती हुई और शुद्धभाव से अनुमोदना करती हुई वे सब भी तुरन्त केवलज्ञान को प्राप्त हुईं।

तब उसी समय वहाँ जयघोष के साथ पटह शब्द से आकाश को भरता हुआ तथा चमकते हुए कर्णकुण्डल वाला सुरमंडल प्रकाशित हुआ। उन्होंने उसे लिंग दिया, व उस मुनिवर को नमन करके हर्षित हुए देवों ने केवलज्ञान की महामहिमा करी। यह आश्चर्य देख सुमंगला तथा [illegible] भी [illegible] केवलज्ञान को प्राप्त हुए तथा यह आश्चर्य देखकर श्री [illegible] राजा [illegible] वहाँ आकर मुनि को प्रणाम करके [illegible] बैठा। [illegible] को आतुर होने का कौतुक [illegible]।

[illegible] आतुर होने [illegible] है। [illegible] है और [illegible]

रह सकता। किन्तु यह आश्चर्य तेरे चित्त को किस हिसाब से भार्जित करता है? तू वहाँ जावेगा तब इससे भी अधिक आश्चर्य देखेगा। इस भांति यथार्थ श्रवण कर गुरु को नमन करके मैं यहाँ आया हूँ और अभी आश्चर्य करने वाले आपके पास उपस्थित हुआ हूँ।

यह सुन महान गुणानुराग के बल से पृथ्वीचन्द्र राजा आनन्द-पूर्ण चित्त हो यह सोचने लगा कि—सचमुच में यह महानुभाव महामुनि गुणों का सागर है कि—जिसने मोह का अनुबंध तोड़-कर देखो! अपना काम किस प्रकार सिद्ध किया? मोह की दृढ़ बेड़ियों को तोड़ने वाले भाग्यशाली पुरुषों को अत्यन्त उत्तम भोग सामग्री भी भंग करने में अन्तराय नहीं कर सकती। अरे! मैं जानता हुआ इस राज्यरूप कूट-यंत्र में गुरुजन की दाक्षिण्यता के कारण सामान्य हाथी के समान फंस गया हूँ। कब मैं झपाटे से भोगोपभोग को छोड़ने वाले धर्मधुरंधर मुनियों की गिनती में गिना जाऊंगा?

कब मैं गुरु के चरणों में प्रणाम करके ज्ञान चारित्र का भाजन होऊंगा? कब मैं उपसर्ग और परिषहों की पीड़ाओं को भलीभाँति सहन करूंगा? इत्यादिक सोचता हुआ वह महात्मा अपूर्व-करण के क्रम से शिव-पद पर चढ़ने को निश्रेणी समान क्षपक-श्रेणी पर चढ़ा। वहां शुक्लध्यान रूप घन से उसने क्षणभर में घनघाति कर्मों को तोड़कर उत्तम केवलज्ञान प्राप्त किया। अब वहां सौधर्मपति आकर, उसे द्रव्यलिंग देकर, चरणों में नमन कर केवल महिमा करने लगा।

यह देख राजा हरिसिंह पद्मावती के साथ, यह क्या हुआ? यह क्या हुआ? इस प्रकार बोलता हुआ वहाँ आ पहुँचा। तथा

उसकी उक्त स्त्रियों ने भी हर्षपूर्वक तुरन्त वहाँ आकर संवेग पाकर केवलज्ञान प्राप्त किया।

यह गुणसागर केवली का कहा हुआ महान् आश्चर्य देखा। इस भांति सुधन सार्थवाह विस्मित मन से सोचने लगा। अब राजा पूछने लगा कि–हे भगवन् आपके ऊपर हमको अत्यन्त प्रतिबन्ध (प्रीति) क्यों है? तब उक्त साधुसिंह बोले–

हे राजा! तू पूर्व भव में चंपा में जयराजा था, और प्रियमती रानी थी और मैं तेरा कुसुमायुध नामक पुत्र था। बाद तुम संयम पालकर विजय–विमान में देवता हुए और मैं सर्वार्थ–सिद्धि में उत्पन्न हुआ था और वहां से संयोग वश यहां उपजा हूँ। इससे मुझ पर तुम्हारा अत्यन्त स्नेह है। यह सुनकर उनको जाति–स्मरण उत्पन्न होकर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। तब भक्ति से नमने वाले इन्द्र ने उनकी महिमा की। इस प्रकार नगरी में लोगों को चमत्कृत करने वाला परमानन्द फैल गया।

अब सुधन सार्थवाह मुनीश्वर को नमन करके पूछने लगा कि–आपकी और गुणसागर की इतनी समान गुणता (समानता) क्यों लगती है? तब मुनींद्र बोले कि–वह पूर्वभव में कुसुमकेतु नामक मेरा पुत्र था, और उसने मेरे साथ ही प्रव्रज्या ली थी। वह मेरे ही समान धर्माचरण करके कर्मक्षय कर देवभव भोगकर वह कुसुमकेतु देव हे सुन्दर! यह गुणसागर हुआ है।

इस प्रकार सम परिणाम से हमने शुभानुबंधि पुण्य संचित किया। वह समान सुखपरम्परा से हमको अभी फलित हुआ है। ये वधूएँ भी पूर्वभव की स्त्रियां हैं। वे संयम पाल कर अणुत्तर-विमान में वस कर पुण्ययोग से हमारी स्त्रियां हुई व भवितव्यता के बल से सामग्री मिलते केवलज्ञान को पाई हैं।

यह सुन सुधन प्रतिबोध पाकर सुश्रावक हुआ। वैसे ही वहां दूसरे भी बहुत से लोग भली भांति चारित्र लेने को तयार हुए। पश्चात् इन्द्र ने हरिसिंह राजा के हरिषेण नामक पुत्र को राज्य पर स्थापित किया। और पृथ्वीचन्द्र ऋषि भी चिरकाल तक विचर करके मोक्ष को पहुँचे।

इस भांति पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र भलीभांति सुनकर हे भव्यलोकों! तुम दीक्षा लेना चाहते हुए भी पिता, भाई, स्वजन, स्त्री आदि लोगों के उपरोध से गृह-वास में रहते हुए भी काम-भोग में आसक्ति छोड़ो।

इस प्रकार पृथ्वीचन्द्र राजा का चरित्र पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सत्रह भेदों में परार्थकामभोगी रूप सोलहवां भेद कहा। अब वेश्या के समान निराशंस होकर गृहवास पाले, तद्रूप सत्रहवें भेद का वर्णन करते हैं।

वेसव्व निरासंसो अज्जं कल्लं चयामि चिंततो।
परकीयंपिव पालइ गेहावासं सिढिलभावो ॥७६॥

मूल का अर्थ—वेश्या के समान निराशंस रहकर आजकल में छोड़ दूंगा। यह सोचता रह कर गृहवास को पराया हो, वैसा जानकर शिथिल भाव से पाले।

टीका का अर्थ—वेश्या के समान निराशंस याने आस्था बुद्धि से रहित होकर अर्थात् जैसे वेश्या निर्धन-कामियों से अधिक लाभ होना असंभव मान कर थोड़ा सा लाभ प्राप्त करती हुई "आज वा कल इसे छोड़ना है" ऐसा विचार करके उसे मन्द

आदर से भोगती है। वैसे ही भाव-श्रावक भी आज वा कल इस गृहवास को छोड़ना है, ऐसा मनोरथ रखकर, मानो वह पराया हो, उस तरह उसे पालता है। सारांश यह है कि-किसी भी कारण से उसे छोड़ न सकने पर भी मन्द आदर वाला रहे-क्योंकि वैसा पुरुष व्रत न ले, तो भी वसुसेठ के पुत्र सिद्धकुमार के समान कल्याण को प्राप्त करता है।

सिद्धकुमार की कथा इस प्रकार है।

यहां पर्वत की पीली भूमि के समान सुकनका (श्रेष्ठ स्वर्ण से भरपूर) और सुप्रभा (शोभायमान) तगरा नामक नगरी थी। वहां सदैव पूर्वभाषी वसु नामक सेठ था। उसके विनयवन्त सेन और सिद्ध नामक दो पुत्र थे। वे स्वभाव से शान्त, भोले, प्रियभाषी और धर्मानुरागी थे। सेन धर्म सुनकर शीलचन्द्र गुरु के पास प्रव्रजित हुआ, किन्तु चरण करण में अत्यन्त प्रमादी हो गया।

दूसरा सिद्ध अपने वृद्ध माता पिता का पालन करने के कारण दीक्षा न लेकर गृहवास में रहता हुआ भी शुद्ध मति से निरन्तर इस प्रकार चिंतवन करने लगा। कब मैं अत्यारंभ के कारण गृहवास को छोड़कर परमसुख की हेतु भूत सर्वज्ञ की दीक्षा ग्रहण करूंगा? कब मैं अपने अंग में भी निस्पृह होकर सर्व संग त्याग करके गुरु के चरणों की सेवा करता हुआ मृगचारी चरूंगा।

कब मैं श्रेष्ठ उपधान धारण करके निर्दोष आचारांग प्रमुख आगम शास्त्र को पढूंगा? कब मैं समिति, गुप्ति संपादन करके दुर्द्धर चारित्र पालूंगा? और कब मेरे वक्षस्थल में (हृदय में) उपशम लक्ष्मी यथेष्ठ रीति से रमेगी? कब मैं स्वर्ण के समान मेरी

आत्मा को महान् उज्वल तपचरण करण रूप अग्नि में डालकर सर्व मल से रहित करूंगा? कब मैं द्रव्य भाव से संलेखना करके परभव में निरपेक्ष रहकर आराधना का आराधन करके प्राणत्याग करूंगा? इस भांति उत्तम मनोरथ रूप विशाल रथ पर मन चढ़ा कर वह समय व्यतीत करता था। एक दिन सेन मुनि सिद्ध को देखने के लिये वहां आ पहुँचे। अब वे दोनों जिनश्रुत भावित मति से उत्पल के दल समान कोमल वाणी से परस्पर प्रेरणादि करके एक स्थान पर बैठे। इतने में कर्मयोग से उन पर बिजली पड़ी, जिससे दोनों मर गये। जिससे उनका पिता तथा परिजन बहुत दुःखी हो गये।

यहां एक समय युगंधर केवली पधारे। तब वसुसेठ ने उनको अपने लड़कों की गति पूछी। तब केवली भगवान् ने उसे कहा कि–सिद्ध सौधर्म–देवलोक में गया है और सेन महर्द्धिक व्यंतर देवरूप से उत्पन्न हुआ है। कारण कि–सिद्ध को शुद्ध साधुत्व पालने की इच्छा थी और दूसरे ने साधुत्व ग्रहण करके विरक्तपन यथावत् नहीं पाला।

यह सुनकर बहुत से लोग गृहवास में विरक्त चित्त हो गये। पश्चात् गुरु भव्य जनों को प्रतिबोध करने के लिये अन्यत्र विचरने लगे। इस प्रकार हे भव्यों! तुम सिद्ध का वृत्तान्त सुनकर शुभभाव से गृहवास में प्रीति छोड़कर मन्द आदर वाले होओ।

इस प्रकार सिद्धकुमार की कथा पूर्ण हुई।

इस प्रकार भावश्रावक का सत्रहवां भेद भी कहा। यहां कोई पूछेगा कि, स्त्री और इन्द्रियविषय ये एक ही विषय हैं, अरक्तद्विष्ट, मध्यस्थ और असंबध्द ये तीन भी एक ही विषय हैं तथा

गृह और गृहवास ये भी एक ही विषय हैं, इनमें कुछ भी भेद नहीं दीखता। इसलिये पुनरुक्त दोष क्यों न माना जाय ?

उसे यह उत्तर है कि– यह बात सत्य है किन्तु देशविरति विचित्र रूप होने से एक ही विषय में अनेक परिणाम रहते हैं तथा एक परिणाम के भी भिन्न-भिन्न विषय संभव हो सकते हैं, इसलिये सर्व भेदों का निषेध करने के हेतु विस्तार से कहने की आवश्यकता होने से यहां पुनरुक्तत्व नहीं माना जा सकता। ऐसा व्याख्यान की गाथाओं ही से बता चुके हैं। अतएव सूक्ष्मबुद्धि से विचार करके अन्य समाधान ठीक जान पड़े तो, वह भी कर लेना चाहिये।

इस प्रकार दृष्टान्त सहित भावश्रावक के सत्रहों भेदों का प्ररूपण किया। इससे विस्तार पूर्वक भावश्रावक के भावगत लिंग प्ररूपित हो गये हैं। अब इसका उपसंहार करते हुए दूसरा प्रस्ताव लागू करते हैं।

इय सतरसगुणजुत्तो, जिणागमे भावसावगो भणिओ।
एस उण कुसलजोगा, लहइ लहुँ भावसाहुत्तं ॥७७॥

मूल का अर्थ—इस प्रकार सत्रह गुण सहित जिनागम में भावश्रावक कहा हुआ है और यह कुशल योग से शीघ्र ही भाव साधुत्व पाता है।

टीका का अर्थ—उपरोक्त प्रकार से सत्रह गुण युक्त जो होवे, वह जिनागम में भावश्रावक माना गया है, और ऐसा होवे तो, यहां पुनः शब्द विशेषणार्थ है। वह क्या विशेषता बतलाता है सो

ते हैं। ऐसा होवे सो द्रव्य साधु तो स्वयं आगम में ही कहा
ा है। यथा—

सर्व शुद्ध नयों के हिसाव से अर्थात् निश्चय-नय के हिसाव
जैसे माटी का पिंड है, वह द्रव्य-घट माना जाता है, जैसे साधु
वह द्रव्यदेव माना जाता है वैसे ही सुश्रावक द्रव्य-साधु है।

इस प्रकार से श्री-देवेन्द्रसूरि विरचित
और
चारित्र गुण रूप महाराज के प्रसाद रूप
'श्री धर्मरत्न की टीका का पीठाधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीय भाग सम्पूर्ण

मुद्रकः—
जैनबन्धु प्रिं० प्रेस,
कसेरा बाजार, इन्दौर (म.प्र.)